व्याख्यान सारसंग्रह पुस्तक माला का २४वाँ पुष्प।

श्री मज्जवाहिराचार्य के

श्री भगवती सूत्र पर व्याख्यान

पञ्चम भाग

सम्पादक—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम की तरफ से

पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ, ब्यावर।

प्रकाशक—

मन्त्री—श्री साधुमार्गी जैन,

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम।

वीराब्द २४७६ | विक्रमाब्द २००७ | ई० सन् १९५०

पौना मूल्य १।)

प्रथम संस्करण १०००

मुद्रक-राधाकृष्णात्मज बालमुकुन्द शर्मा

श्री शारदा प्रिंटिंग, प्रेस रतलाम।

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम

का

परिचय

पदाधिकारी

प्रेसीडेन्ट—श्रीमान् सेठ हीरालालजी नांदेचा
वाइस प्रेसीडेन्ट—श्रीमान् बालचन्दजी श्रीश्रीमाल
खजाञ्ची—श्रीमान् सेठ वर्दीचन्दजी वर्धभानजी पीतलिया
सेक्रेटरी—सुजानमल गांदिया

चालू प्रवृत्तियां

(१) श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का सञ्चालन.
(२) शिक्षण संस्थाओं का सञ्चालन.
(३) निवेदन-पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन.
(४) साहित्य का सम्पादन एवं प्रकाशन.
(५) न्यायपूर्ण, सरल, सत्य सिद्धान्तों का प्रचार.

सदस्य

रू. ५०१) एक मुश्त देने वाले वंशपरम्परा के सदस्य.
रू. १०१) " " " " आजीवन सदस्य.
रू. २) वार्षिक शुल्क देने वाले वार्षिक सदस्य माने जाते हैं।

पुस्तकों के प्राप्ति स्थान

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम (मध्यभारत)।
श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।
श्री सोहनलाल जैन रजोहरण पात्र भण्डार, अम्बाला (पंजाब)।
श्री सेठीया जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर (मारवाड़)।
श्री जैन जवाहर मण्डल रायपुर (सी. पी.)।
श्री जैन नवयुवक मण्डल कान्धला (मुजफ्फरनगर)।

आवश्यक निवेदन
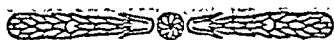
श्री मज्जवाहिराचार्य के प्रवचनों में श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक की व्याख्या उपलब्ध है, जिसमें से चार भाग मंडल के तरफ से प्रकाशित होकर पाठकों के कर कमलों में पहूँच चूके हैं। इसी तरह यह पांचवा भाग भी प्रकाशित करते हुए हमें अत्यानन्द का अनुभव हो रहा है और छठा भाग भी शिघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

श्री मज्जवाहिराचार्य की प्रवचन शैली बड़ी ही रोचक, हृदयग्राही एवं तल स्पर्शी थी। जिन्होंने इस साहित्य को एक बार देख लिया, वह हमेशः के लिये साहित्य रसिक बन जाते हैं। आज अधिकांश वक्ता इन्हीं प्रवचनों का आधार लेकर अपनी वक्तत्व शक्ति का विकास कर रहे हैं।

श्री मद्भगवती सूत्र के व्याख्यानों को सम्पादन कराने का श्रेय, श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी साहब गेलड़ा की उदारता एवं श्रीमान् ताराचन्दजी साहब गेलड़ा की प्रेरणा को है। एतदर्थ इन सज्जनों का हम पुनः आभार मानते हैं।

इस पंचम भाग के प्रकाशन में खास तोर से किसी की आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु व्यावर में श्री जवाहिर स्मारक फंड कायम हुवा था, उसका मुख्य उद्देश्य उनके प्रवचनों का सुन्दर ढंग से साहित्य रूप में उपयोग करने का है। अतः उस फंड की वसुल हुई रकम में से सहायता लेकर इसका भी पौना मूल्य रुपया १।) में वितरण किया जाता है।

सद्ज्ञान के प्रचारक उदार श्रीमानों से निवेदन है कि छठे भाग के प्रकाशन में अपनी उदारता का परिचय देकर अपने नाम आफिस में नोट करा दें ताकि मंडल के कार्यकर्ताओं की भावनानुसार अल्प मूल्य में साहित्य जनता की सेवा में उपस्थित कर सकें।

अन्त में हम यह जाहिर कर देना योग्य समझते हैं कि पूज्य श्री के प्रवचन साधु भाषा में ही होते थे, संग्राहक या सम्पादकों से कोई त्रुटि हो तो वह दोष हमारा है। कोई वाक्य जैनागम शैली से विपरीत निगाह में आवे तो हमें सूचित करने से साभार संशोधन कर दिया जावेगा। इत्यलम्॥

रतलाम द्वितिय आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा सं० २००७।

भवदीय—

सुजानमल गांदिया	**बालचन्द श्रीश्रीमाल**
मन्त्री	**वाइस प्रेसीडेन्ट**

श्री साधुमार्गी जैन पू० श्री हु० महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम।

गवतीसूत्रम्

(भमाङ्गम्)

, भाग

आठवां उद्देशक
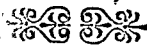
गिहे समोसरणं; जाव एवं

तबाले णं भंते! मणुस्से किं

ति, तिरिक्खाउयं पकरेति,

ति, देवाउयं पकरेइ? णेरइया-

सु उववज्जति, तिरियाउयं

सद्‌ज्ञान के प्रचारक उदार श्रीमानों से निवेदन है कि छठे भाग के प्रकाशन में अपनी उदारता का परिचय देकर अपने नाम आफिस में नोट करा दें ताकि मंडल के कार्यकर्ताओं की भावनानुसार अल्प मूल्य में साहित्य जनता की सेवा में उपस्थित कर सकें।

अन्त में हम यह जाहिर कर देना योग्य समझते हैं कि पूज्य श्री के प्रवचन साधु भाषा में ही होते थे, संग्राहक या सम्पादकों से कोई त्रुटि हो तो वह दोष हमारा है। कोई वाक्य जैनागम शैली से विपरीत निगाह में आवे तो हमें सूचित करने से साभार संशोधन कर दिया जावेगा। इत्यलम् ॥

रतलाम द्वितिय आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा सं० २००७।

भवदीय—

सुजानमल गांदिया
मन्त्री

बालचन्द श्रीश्रीमाल
वाइस प्रेसीडेन्ट

श्री साधुमार्गी जैन पू० श्री हु० महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम।

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्

(पञ्चमाङ्गम्)

पञ्चम भाग

प्रथम शतक आठवां उद्देशक
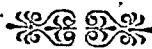
मूलपाठ—रायगिहे समोसरणं; जाव एवं वयासी ।

प्रश्न—एगंतबाले णं भंते ! मणुस्से किं णेरइयाउयं पकरेति, तिरिक्खाउयं पकरेति, मणुस्साउयं पकरेति, देवाउयं पकरेइ? णेरइयाउयं किच्चा णेरइएसु उववज्जति, तिरियाउयं

किच्चा तिरिएसु उववज्जंति, मणुस्साउयं किच्चा मणुस्ससु उववज्जंति, देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जंति ?

उत्तर—गोयमा ! एगंतबाले णं मणुस्से णेरइयाउयंपि पकरेति, तिरियाउयंपि पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ। णेरइयाउयंपि किच्चा णेरइएसु उववज्जंति, तिरियाउयंपि किच्चा तिरिएसु उववज्जइ, मणुस्सयाउयंपि किच्चा मणुएसु उववज्जंति, देवाउयंपि किच्चा देवलोगेसु उववज्जंति।

प्रश्न—एगंतपंडिए णं भंते ! मणुस्से किं णेरइयाउयं पकरेति, जाव-देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जंति ?

उत्तर—गोयमा ! एगंतपंडिए णं मणूसे आउयं सिय पगरेति, सिय णो पकरेति, जइ

पकरेइ णो नेरइयाउयं पकरेति, णो तिरियाउयं पकरेति, णो मणुस्साउयं पकरेति, देवाउयं पकरेति। णो णेरइयाउयं किच्चा णेरइएसु उववज्जति, णो तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जति, णो मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ, देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं जाव–देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

उत्तर—गोयमा ! एगंतपंडियस्स णं मणूसस्स केवलं एव दो गतीओ पण्णायंति, तंजहा–अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति।

प्रश्न—बालपंडिते णं भंते ! मणुस्से किं

णेरइयाउयं पकरेति, जावदेवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

उत्तर—णो णेरइयाउयं पकरेइ, जाव-देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं, जाव-देवाउयं किच्चा देसु उववज्जति ?

उत्तर—गोयमा ! बालपंडिते णं मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा अंतिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा, णिसम्म देसं उवरमइ, देसं णो उवरमइ; देसं पच्चक्खाइ; देसं णो पच्चक्खाइ । से तेणट्ठेणं देसोवरम–देसपच्चक्खाणेणं णो णेरइयाउयं पकरेति, जाव-देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । से तेणट्ठेणं जाव–देवेसु उववज्जइ ।

संस्कृत-छाया

राजगृहे समवसरणम् । यावत्-एवमवादीत्—

प्रश्न—एकान्तबालो भगवन् ! मनुष्यः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, तिर्यगायुष्कं प्रकरोति, मनुष्यायुष्कं प्रकरोति, देवायुष्कं प्रकरोति ? नैरयिकायुष्कं कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते, तिर्यगायुष्कं कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, मनुष्यायुष्कं कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुष्कं कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते ?

उत्तर—गौतम ! एकान्तबालो मनुष्यः नैरयिकायुष्कमपि प्रकरोति, तिर्यगायुष्कमपि प्रकरोति, मनुष्यायुष्कमपि प्रकरोति, देवायुष्कमपि प्रकरोति । नैरयिकायुष्कमपि कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते, तिर्यगायुष्कमपि कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, मनुष्यायुष्कमपि कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुष्कमपि कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते ।

प्रश्न—एकान्तपण्डितो भगवन् ! मनुष्यः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति ? यावत्-देवायुष्कं कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते ?

उत्तर—गौतम ! एकान्तपण्डितो मनुष्यः आयुःस्यात् प्रकरोति, स्यात् नो प्रकरोति, यदि प्रकरोति नो नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, नो तिर्यगायुष्कं, प्रकरोति, नो मनुष्यायुष्कं प्रकरोति, देवायुष्कं प्रकरोति । नो नैरयिकायुष्कं कृत्वा नैरायिकेषु उपपद्यते, नो तिर्यगायुष्कं कृत्वा

तिर्यक्षु उपपद्यते, नो मनुष्यायुष्कं कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन यावत्-देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते ?

उत्तर—गौतम ! एकान्तपण्डितस्य मनुष्यस्य केवलमेव द्वे गती प्रज्ञायत, तद्यथा—अन्तक्रिया चैव, कल्पोपपत्तिका चैव । तत् तेनार्थेन गौतम ! यावद् देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते ।

प्रश्न—बालपण्डितो भगवन् मनुष्यः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति यावत् देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते ?

उत्तर—गौतम ! नो नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, यावद् देवायुष्कं कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन, यावत्–देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते ?

उत्तर—गौतम ! बालपण्डितो मनुष्यः तथारूपस्य श्रमणस्य वा, माहनस्य वा, आन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा, निशम्य देशाद् उपरमते, देशाद् नो उपरमते देशं प्रत्याख्याति, देशं नो प्रत्याख्याति । तत्तेनार्थेन देशोपरम-प्रत्याख्यानेन नो नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, यावद् देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते । तत् तेनार्थेन यावद्-देवेषु उपपद्यते ।

मूलार्थ—

राजगृह नगर में समवसरण हुआ और यावत्-इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए—

प्रश्न—भगवन् ! एकान्त बाल (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य क्या नारक की आयु बांधता है तिर्यंच की आयु बांधता है, मनुष्य की आयु बांधता है या देव की आयु बांधता है ? और नारक की आयु बांध कर नारकियों में उत्पन्न होता है, तिर्यंच की आयु बांधकर तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, मनुष्य की आयु बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है या देव की आयु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! एकान्त बाल मनुष्य, नैरयिक की भी आयु बांधता है, तिर्यंच की भी बांधता है, मनुष्य की भी बांधता है और देव की भी बांधता है । तथा नरकायु बांधकर नारकों में उत्पन्न होता है, तिर्यंचायु बांधकर तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, मनुष्यायु बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है और देवायु बांधकर देव लोक में उत्पन्न होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! एकान्त पंडित मनुष्य क्या नरकायु बांधता है, या यावत् देवायु बांधता है ? और यावत्-देवायु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! एकान्त पंडित मनुष्य कदाचित् आयु बांधता है कदाचित् नहीं बांधता। अगर आयु बांधता है तो नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु नहीं बांधता, किन्तु देवायु बांधता है। वह नारकी की आयु न बांधने से नारकियों में उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार तिर्यंचायु न बांधने से तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होता, मनुष्यायु न बांधने से मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होता; अलबत्ता देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

प्रश्न—भगवन् ! इसका क्या कारण है कि यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! एकान्त पंडित मनुष्य की केवल दो गतियां कही हैं। वे इस प्रकार हैं—अंतक्रिया और कल्पोपपत्तिका। इस कारण हे गौतम ! (एकान्त पंडित मनुष्य) देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

प्रश्न—भगवन् ! बाल पंडित मनुष्य क्या नारकायु बांधता है, या यावत् देवायु बांध कर देवों में उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! वह नारकायु नहीं बांधता और यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ?

प्रश्न—भगवन् ! इसका क्या कारण है कि यावत्-देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! बाल पंडित मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी धार्मिक और आर्य वचन सुन कर, धारण करके, एक देश से विरत होता है और एक देश से विरत नहीं होता। एक देश से प्रत्याख्यान करता है और एक देश से प्रत्याख्यान नहीं करता। इस लिए गौतम ! देशविरति और देश प्रत्याख्यान के कारण वह नारकायु का बंध नहीं करता और यावत्—देवायु बांध कर देवों में उत्पन्न होता है। इसी लिए पूर्वोक्त कथन किया है।

व्याख्यान—

सातवें उद्देशक में गर्भ और जन्म का अधिकार कहा है, किन्तु गर्भ और जन्म आयुष्य के बंध विना नहीं हो सकते। अतएव आठवें उद्देशक में आयु का विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त संग्रहगाथा में, आठवें उद्देशक में बाल—जीवों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी। अतः आयु के साथ बाल जीवों का भी वर्णन किया जायगा।

इस आठवें उद्देशक का उपोद्घात राजगृह नगर, गुणशील बाग के समवसरण से होता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! संसार में तीन प्रकार के जीव होते हैं:-(१) बाल (२) पंडित और (३) बालपंडित। इनमें से बाल जीव नरक में ही जाएँगे या तिर्यंच होंगे, या मनुष्य अथवा देव ही होंगे?

बाल अज्ञानी को कहते हैं। जैसा जाना वैसा ही आचरण करने वाला पंडित कहलाता है और जो जानता हुआ भी आचरण कम करता है, उसे बाल पंडित कहते हैं; अर्थात् अपने ज्ञान को जो आंशिक रूप में, क्रिया में परिणत करता है, वह बाल पंडित कहलाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हे गौतम! बाल जीव नरक में भी जाता है, तिर्यंच भी होता है, मनुष्य भी होता है और देव भी होता है। कोई बाल जीव महा आरंभी होता है, कोई अल्प--आरंभी होता है। कोई महाकषायी होता है, कोई अल्प- कषायी होता है। अतएव उनकी गति अलग-अलग होती है।

गौतम स्वामी ने बाल जीव के विषय में जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही वह पंडित जीव के विषयमें प्रश्न करते हैं। भगवान् ने उत्तर दिया है—गौतम! बाल जीव अगर कष्ट सहन करता है तो अज्ञान से कष्ट सहन करता है और पंडित जीव ज्ञान पूर्वक कष्ट सहन करता है। पंडित जीव ज्ञान से क्षमा करता है। अतएव

वह उसी भवसे-मोक्ष हो जाता है अगर उसके कर्म शेष रह जाते हैं तो वह स्वर्ग जाता है। वहां की स्थिति पूर्ण होने पर फिर मनुष्य होता है और मोक्ष चला जाता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी बाल पंडित के विषय में प्रश्न करते हैं। जितनी भी अच्छी क्रिया बनती है वह पंडितपन में है और जो नहीं बनती वह बालपन में है। प्रायः सर्वत्र उत्तम, मध्यम और जघन्य, यह तीन श्रेणियां होती हैं। जहां तक संभव हो उत्तम वृति धारण करनी चाहिए। उत्तम वृत्ति न बने और मध्यमवृत्ति बने तो भी कल्याणकारी है अर्थात् बड़े-बड़े पापों को त्याग करने में भी कल्याण ही है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा:—

एक राजा और उसके प्रधान के पुत्र नहीं था। राजा सोचने लगा—मेरे पश्चात् राज्य का मालिक कौन होगा? प्रधान भी इसी प्रकार विचारता था। राजा और प्रधान-दोनों एक सिद्ध की सेवा करने लगे। सिद्ध ने एक दिन उनसे पूछा—'तुम लोग पुत्र द्वारा अपना नाम ही करना चाहते हो या जगत् का कल्याण करना चाहते हो?' राजा ने उत्तर दिया—'केवल नाम के लिए ही नहीं, किन्तु प्रजा के लिए भी पुत्र की इच्छा करता हूँ' सिद्धने कहा—'तुम्हारी इच्छा अच्छी है, मगर ऐसा पुत्र तुम्हारे घर नहीं जन्मेगा। ऐसा पुत्र समाज़ में मिलेगा।' तब राजाने पूछा—'कहां मिलेगा?' सिद्ध ने कहा—'मंगतों की फौज में ऐसा पुत्र मिलेगा।'

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा–ऐसा पुत्र और मँगतों की फौज में मिलेगा ?

सिद्ध—हां, अवश्य ।

राजा—तो हम उसे कैसे पहचान सकेंगे ।

सिद्ध ने कहा–पहले मँगतों को खूब टुकड़े बँटवाओ, फिर उन सबको वाड़े में बँद करके, उनमें से एक–एक को बाहर निकालो । जिस मँगते को बाहर निकालो, उससे कहते जाना कि अपने पास के टुकड़े फेंक दे तो तुझे राज्य देंगे । जो मँगता तुम्हारी बात पर विश्वास करके सब टुकड़े फेंक दे, उसे तो राजा बना देना, और जो थोड़े फेंक दे तथा थोड़े रख ले उसे प्रधान बना देना ।

सिद्ध के पास से राजा और प्रधान लौट आये । राजा ने आज्ञा दी–आज सब लोग मँगतों को खूब टुकड़े बांटें । राजा की आज्ञा से लोगों ने खूब टुकड़े बांटे । मँगतों के पास बहुत-बहुतसे टुकड़े हो गये । इसके पश्चात् राजा ने उन सब को एक बाड़े में घेर दिया और फिर उनमें से एक–एक को निकाल कर कहने लगा--अगर तुम अपने सब टुकड़े फैंक दो तो तुम्हें राज्य दूँ ।

मँगते सोचते--भला कहीं टुकड़े फकने से राज्य मिलता है ? हमारे भाग्य में राज्य बंदा होता तो पराये टुकड़ों पर गुजर क्यों करना पड़ता ? इस प्रकार सोचकर वह कहते–आज बड़े भाग्य

से टुकड़े मिले हैं। इससे टुकड़े मत फिंकवाओ । राजा ऐसे सब भिखारियों को निकालता जाता था।

आखिर एक भिखारी द्वार पर आया। उससे भी यही बात कही गई । उसने सोचा राजा कहता है तो टुकड़े फेंक देना अच्छा है, राज्य चाहे मिले या न मिले! ऐसा सोच कर उसने सब टुकड़े फेंक दिये। राजा ने उसे बिठा लिया।

उसके पश्चात् राजाने उसी क्रम से फिर भिखारियों को निकालना आरंभ किया। कुछ भिखारियों के पश्चात् एक भिखारी आया। टुकड़े फेंकने के लिए कहने पर उसने सोचा--'राजा कहता है, राज्य दूँगा। अगर इसने राज्य न दिया तो अभी-अभी भूखों मरना पड़ेगा। फिर भी राजा की बात पर अविश्वास करना ठीक नहीं है। उसने कहा--'मैं सब टुकड़े तो नहीं फैंकूँगा, हां कुछ रख लूँगा।' राजाने कहा--'जैसी तुम्हारी इच्छा हो, करो।' भिखारी ने अच्छे-अच्छे कुछ टुकड़े रख लिये और शेष फेंक दिये। राजा ने उसे भी बैठा लिया और सब भिखारियों को छोड़ दिया।

दूसरे दिन राजा ने पहले भिखारी को राजा और दूसरे को प्रधान बना दिया। राजा बना हुआ भिखारी सोचने लगा, टुकड़े त्यागने से मुझे राज्य मिला है, इसलिए अब और अधिक त्याग करना चाहिए। प्रधान बना हुआ भिखारी सोचता था,

टुकड़ा तो राजा से मिलेगा ही, इस लिए राजा और प्रजा दोनों से खाना ठीक नहीं है। इस प्रकार इन दोनों से राजा को बहुत आनन्द हुआ। पहले वाले राजा और प्रधान को भी इससे बड़ा संतोष हुआ।

इस दृष्टान्त के अनुसार संसार के भोग्य पदार्थ टुकड़े हैं और पंडित, बालपंडित तथा बाल मनुष्य, टुकड़े मांगने वाले भिखारियों की फौज के समान हैं। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि अगर तुम भिखारी हो तो क्या हुआ! अगर मोक्ष रूपी राज्य के लिए सब टुकड़े फेंक दो तो तुम्हारी गणना पंडितों में होगी। अगर सब छोड़ने की उदारता नहीं है तो भी खराब-खराब टुकड़े तो फेंक ही दो। ऐसा करने पर राजा नहीं तो प्रधान तो बन ही जाओगे। अर्थात् बालपंडित कहलाओगे। आज थोड़ा त्यागने वाला, त्याग की महिमा समझ लेगा तो कल पूरा त्याग भी कर देगा। लेकिन जरा भी त्याग न करने वाला भिखारी ही बना रहेगा अर्थात् बाल ही रहेगा।

अगर आप सहसा त्याग नहीं कर सकते, तो कम से कम ऐसी वस्तुओं का अवश्य त्याग कीजिए जिन्हें त्यागने से आपको कोई हानि नहीं मालूम होती। इतना त्याग करने से भी आप कल्याण के भागी होंगे। जो वस्तु त्यागनी पड़ेगी ही, उसे स्वेच्छा-पूर्वक त्याग देना ही बुद्धिमत्ता का काम है।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया प्रभो ! एकान्त बालजीव मरकर किस गति में जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हे गौतम ! एकान्त बालजीव मरकर चारों गतियों में से किसी भी गति में जा सकता है !

फिर गौतम स्वामी दूसरा प्रश्न करते हैं--भगवन् ! एकान्त पंडित मनुष्य मरकर कहां जाता है ? यानी जिसमें विद्या चाहे कम हो किन्तु सर्वविरति विद्यमान है वह मनुष्य मृत्यु के पश्चात् किस गति में उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—गौतम ! एकान्त पंडित मनुष्य नरक, तिर्यंच और मनुष्य की गति में नहीं जाता। वह या तो देवलोक में उत्पन्न होता है या मोक्ष जाता है । अर्थात् कदाचित् आयु बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता

भुज्यमान आयु के तीन हिस्सों में से दो हिस्से जब व्यतीत हो जाते हैं, और तीसरा हिस्सा आरंभ होता है, तभी नवीन आयु का बंध होता है अर्थात् जीवन के तीसरे भाग में जीव अपने आगामी भव का निर्माण करता है ।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव अपनी आयु के के तीसरे भाग में भावी भव का आयुष्य बांधता है, तो फिर दो भागों में आयुष्य टूटता तो नहीं है ? उदाहरणार्थ—सौ वर्ष के जीवन में से ६६ वर्ष तक भावी भव का आयुष्य नहीं बांधता

और अंतिम ततीस वर्ष में आयुष्य बँधता है। ऐसी अवस्था में छयासट वर्ष के आयुष्य में से तो आयुष्य नहीं टूटता ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपनी असावधानी से आयुष्य टूटता है। अमेरिका के लोगों की औसत उम्र पचपन वर्ष की मानी जाती है, अन्यान्य देशों के मनुष्यों की औसत उम्र भी ५०–४५ वर्ष के लगभग गिनी जाती है, किन्तु भारतीय जनता की सिर्फ चौवीस वर्ष की उम्र है ! इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीय सावधानी नहीं रखते। अगर यह कहा जाय कि जिस देश वाले जितनी आयु लाते हैं, उतनी भोगते हैं, तो इस कथन से भारत के निवासी ही पुण्यहीन ठहरते है और अमेरिकावासी अधिक से अधिक पुण्यवान् सिद्ध होते हैं। फिर यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत में धर्म-कर्म कम है और अमेरिका में ज्यादा है। लेकिन यह विचार सही नहीं है। भारत आर्य क्षेत्र है, इस लिए धर्म का वास यहीं है। पाश्चात्य विद्वान् डाक्टर मैक्समूलर ने कहा है कि धर्म और साहित्य का जैसा प्रचार भारत में हुआ है, वैसा प्रचार और कहीं नहीं हुआ। जब अन्य देशों के लोग भी भारत के धर्म की बड़ाई करते हैं, तब भारत को पुण्यहीन कैसे कहा जा सकता है ?

आयुष्य को जितना अधिक यत्नपूर्वक रक्खा जाय उतना ही अच्छा और स्थायी वह रहेगा। किसी दीपक में रात भर

जलने योग्य तेल है। अगर एक बत्ती से जलाया जाय तो वह रात भर प्रकाश देगा। अगर एक के बदले दो बत्तियां जलाई जाएँ तो तेल आधी रात में ही समाप्त हो जायगा। यही बात आयुष्य के विषय में है। जीव परलोक से आयुष्य अवश्य लाया है, मगर यत्न सहित उसका उपयोग करना स्वयं उसका काम है। यह बात मैं अपनी ही ओर से नहीं कहता। शास्त्र में भी आयु का नाश होना कहा है। शास्त्र का प्रमाण पहले दिया जा चुका है। जीव का भेद (नाश) हो जाना उपक्रम कहलाता है।

उपक्रम के दो भेद हैं—परिकर्म और विनाश। वृक्ष में पानी और खाद देने से उसके फलों में भी सुन्दरता आ जाती है और वह वृक्ष अधिक दिनों तक ठहरता है। यह परिकर्म कहलाता है। इसी प्रकार वृक्ष की जड़ों में नमक डाल देने से वृक्ष जल्दी सूख जाता है, यह विनाश कहलाता है। तात्पर्य यह है कि परिकर्म से आयु अधिक दिनों तक रहती है और विनाश से उसका जल्दी अन्त आ जाता है।

आयु नष्ट होने के सात कारणों में, पहला कारण अध्यवसाय अर्थात राग, द्वेष, भय आदि हैं। अध्यवसाय से आयु का शीघ्र नाश होता है। अतिस्नेह, अतिक्रोध, अतिभय, इत्यादि सब आयुनाश के कारण हैं।

सुना है, एक यूरोपियन के यहां एक भिश्ती रहता था।

साहब ने उस भिश्ती के नाम से एक-दो रुपये लॉटरी में लग दिये। संयोगवश लॉटरी में पहला नंबर भिश्ती का ही निकल आया। एक लाख रुपये का प्रथम पुरस्कार था। साहब के पास तार आया। साहब बहुत खुश हुआ कि गरीब भिश्ती को एक लाख रुपये मिल गया। साहब ने भिश्ती से कहा-तुझे एक लाख रुपये मिला है। भिश्ती ने समझा-साहब मजाक कर रहे हैं। उसने साहब से कहा-मुझ जैसे गरीब को एक लाख रुपया कौन दे सकता है? साहब ने विश्वास दिलाते हुए कहा-हँसी की बात नहीं है। लो, यह एक लाख रुपये सँभालो!

इतना कहकर साहबने एक लाख के नोट भिश्ती के सामने रख दिये। इतने रुपये मिलते देख कर भिश्ती को इतनी अधिक प्रसन्नता हुई कि वह उसे सहन नहीं कर सका और उसी समय चल बसा।

शास्त्र का कथन है कि प्रसन्नता की अधिकता से मरने वाले का आयुष्य तो लम्बा भी हो सकता था, परन्तु जैसे तेल होते हुए भी पवन के झकोरे से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वह भी प्रसन्नता के झपाटे में आकर मर गया। भिश्ती को अतिराग आया था, इससे वह मर गया। इस प्रकार अतिराग भी मृत्यु का कारण है।

द्वेष और क्रोध के कारण भी आयु का नाश हो जाता है।

भयसे भी आयु नष्ट होती है। सुनते हैं-दो मित्रों में से एक ने दूसरे से कहा-तुम रात के समय श्मशान में खूँटी गाड़ आओगे तो मैं मिठाई खिलाऊँगा। दूसरा मित्र खूँटी गाड़ने के लिए चल दिया। उसने खूँटी गाड़ भी दी, परन्तु खूँटी के साथ, अंधेरे में उस की धोती का पल्ला भी गड़ गया। जब वह उठने लगा, तो उसका पल्ला अटका। उसने समझा-मुझे भूतने पकड़ लिया है। इसी भय के कारण वह वहीं मर गया।

इस प्रकार आयुष्यनाश का एक कारण अध्यवसाय है। भारतमें भय, शोक, मोह आदि इतना बढ़ा हुआ है कि यहां के लोगों का आयुष्य नष्ट हो रहा है।

किसी अखबार में पढ़ा था कि एक फाँसी की सजा पाये हुए कैदी को डाक्टरों ने माँग लिया। डाक्टरों ने कहा-हम इस पर एक प्रयोग करेंगे। डाक्टर उसे अपनी प्रयोगशाला में लाये। कैदी से कहा गया-तुम्हें फाँसी का हुक्म हुआ है। वहाँ भी मरना पड़ता और यहाँ भी मरना पड़ेगा। वहाँ तकलीफ से मरते, यहाँ आराम से मरोगे, कैदी ने कहा-जो मर्जी, हो, करो, मैं तो हुक्म सुनते ही एक प्रकार से मर चुका हूँ।

डाक्टरों ने कैदी की आँखों पर मजबूत पट्टी बाँध दी और उसे एक आरामकुर्सी पर बैठा दिया। फिर एक नल लगा कर उसके द्वारा कैदी के शरीर पर पानी टपकाया गया। डाक्टर कहने

लगे–ओफ ! इसके शरीर से तो बहुत खून बहा जा रहा है। कैदी की आँखों पर पट्टी थी। वह कुछ देख नहीं सकता था और डाक्टरों के कथनानुसार यही समझता था कि मेरे शरीर से रक्त निकल रहा है। थोड़ी देर में वह कैदी अपने अध्यवसाय के ही कारण मर गया।

आज के बहुत–से लोग मस्तक की खटपट में पड़ कर हृदय की बात भूल जाते हैं। किन्तु शास्त्र कहता है कि राग, द्वेष, भय आदि अध्यवसाय से भी आयु नष्ट होती है। भारत के बहुत–से लोगों का अध्यवसाय ही उनकी मृत्यु का कारण होता है। कई अनाड़ी वैद्य भी, रोगी के सामने 'यह नहीं बचेगा' कह कर उसे घबराहट में डाल देते हैं। इसी तरह और लोग भी बीमार को कहते हैं–अमुक को भी यही बीमारी हुई थी और उस बीमारी ने उसके प्राण ले लिये। इस प्रकार की बातें सुनकर कई-एक केवल भय के मारे ही मर जाते हैं।

लोगों ने भूत-प्रेत और डाकिन आदि का भय भी बना रक्खा है। किन्तु शास्त्र कहता है–मारने वाला भूत नहीं है, किन्तु भूत का भय है। जितने लोग रोग से नहीं मरते, उतने भय से मर जाते हैं। भय की महामारी बहुत जबर्दस्त है। लोग यह नहीं सोचते कि कदाचित् मृत्यु आ भी गई हो तो क्यों भयभीत होने

वे बच जाएँगे ? हाँ, निर्भयता से बचाव हो भी सकता है, अतएव भय न करना ही अच्छा है।

बहुत सी माताएँ बच्चों को भय दिखलाती रहती हैं। उन्होंने 'हौआ' नामक एक अद्भुत तत्त्व का आविष्कार किया है। उसके भय से कोमल बुद्धि बालक काँप उठते हैं। पहले के कई-एक अध्यापक भी तरह-तरह के भीषण भय बतलाया करते थे। ऐसा कर के बालक को सुधारा नहीं जा सकता, वरन् बड़ा होने पर भी वह डरपोक और कायर रह जाता है। जापान का पाँच वर्ष का बालक भी तलवार ले कर श्मशान में जा सकता है, परन्तु भारत का साठ वर्ष का बूढ़ा भी वहाँ जाते डरता है। ऐसी दशा में आयुष्य कम होना स्वाभाविक है। जहाँ पग-पग पर भय भरा है, वहाँ के लोगों का आयुष्य कम क्यों नहीं होगा ?

बचपन के संस्कार आयु भर रहते हैं। भय के संस्कारों से धर्म--अर्थ का नाश ही होता है। इस लिए भगवान् ने 'सव्वेसु दाणेसु अभयप्पयाणं' अर्थात् सब दानों में अभयदान प्रधान है, ऐसा कहा है। भगवान् के विशेषणों में भी 'अभयदयाणं' विशेषण लगाया गया है। भगवान् ने प्राणीमात्र को निर्भय बनाने का उपदेश दिया है। अगर तुम सच्चे दयावान् हो तो न किसी को भय दो, न किसी से भय खाओ।

जो जीव जितनी आयु लाया है, वह उतनी ही भोगता है,

यह कथन एकपक्षीय है। अलवत्ता देवता, तीर्थंकर और नारकी जीवों के संबंध में यह कथन सत्य है, मगर यहां उनकी बात नहीं है। देवों और तीर्थंकर की बात कहकर अपने कर्त्तव्य को भूलना ठीक नहीं है। हमें अपने संबंध में भी विचारना करना चाहिए और अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक तरह करना चाहिए।

लोग दूसरे प्राणियों को और अपने बच्चों को भयभीत करते हैं, लेकिन भयभीत करना भी हिंसा है। अतएव किसी को भयभीत नहीं करना चाहिए। हां, सच्चा उपदेश देकर नरक का वास्तविक भय बतलाना अनुचित नहीं है, पाप का भय बतलाना पाप नहीं है, क्योंकि नरक का या पाप का भय दिखलाने का अर्थ है--उस भय से मुक्त करने के लिए किसी को सावधान करना। अनावश्यक भय दिखला कर हृदय में भीषणता उत्पन्न करना पाप है।

आयुभेद का दूसरा कारण निमित्त है। राग, द्वेष, भय आदि न होने पर भी निमित्त से जीव की मृत्यु हो जाती है। किसी के मर्मस्थान पर तलवार, लाठी, भाला या बंदूक की गोली लगने पर वह मर जाता है। यह आयुभेद का दूसरा कारण है।

शस्त्र, मारने के लिए ही बने हैं। अगर वह हिंसा न कर सकें तो उन्हें 'शस्त्र' नाम ही न दिया जाय। 'शू हिंसायाम्'

धातु से 'शस्त्र' शब्द बना है। इसी लिए यह हिंसा के हेतु हैं। बड़े-बड़े युद्धों में लाखों मनुष्यों की मृत्यु होती देखी जाती है। अगर युद्ध न होता तो क्या एकदम इतने अधिक मनुष्य मरते? नहीं। अतएव आयुभेद का एक कारण निमित्त भी है।

आयुभेद का तीसरा कारण आहार है। बहुत से लोग आहार के अभाव में मर जाते हैं और बहुत से अधिक आहार खाजाने से भी मर जाते हैं बल्कि भूख से मरने वालों की अपेक्षा अधिक खाने से मरने वालों की संख्या अधिक है। आहार, शरीर का निर्वाह करने के लिए है, परन्तु अधिक आहार शरीर बिगाड़ने के कारण होता है।

आज आप लोगों के शरीर में जो नानाविध विकार घुसे हुए हैं, उनका मुख्य कारण अधिक और अहितकर खाना है। आंखों से आंसू निकल रहे हैं, फिर भी शाक तो वही पसंद होगा, जिसका रंग मिर्चों के कारण लाल हो गया हो। ऐसा जान पड़ता है कि आजकल भोजन का उद्देश्य जिह्वा को तृप्त करना है, शरीर-निर्वाह करना नहीं। बूढ़ों, वृद्धों और बच्चों का भोजन एक-सा हो रहा है। भोजन में ब्रह्मचर्य की रक्षा को कोई स्थान नहीं है। न खाने योग्य भोजन बच्चों को खिलाया जाता है। अपथ्य भोजन आयु का नाशक है, इसी लिए भगवान् ने कहा है-आहार भी मृत्यु का कारण है।

आहार के निरोध से भी आयु का नाश होता है-अन्नपानी के त्याग से मृत्यु हो जाती है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीर आहार पर ही टिका हुआ है, परन्तु उसकी अधिकता या उसका अभाव मृत्यु का कारण होता है। अतएव आयुभेद का तीसरा कारण आहार है।

रोग भी आयुष्य के विनाश का कारण है। अनेक रोग ऐसे होते है, जिनसे शीघ्र ही जीवन का अन्त आ जाता है। अमेरिका आदि देशों में भारत की तरह जल्दी रोग नहीं होता; क्योंकि वहाँ के लोग गंदी वायु में नहीं रहते। गंदी जगह और गंदे घरों बीमारी के कीड़े पैदा होते हैं। उनसे रोग फैलता है और मनुष्य मर जाता है। इस प्रकार बीमारी भी आयुष्य नाश का कारण है।

पराघात भी आयु-विनाश का कारण है। गड़हे में गिर जाना, कुए में पड़ जाना या मकान पर नीचे गिर पड़ना, यह सब पराघात है और इससे मृत्यु हो जाती है।

स्पर्श से भी आयुष्य नष्ट हो जाता है। अर्थात् किसी वस्तु के छू जाने मात्र से भी मत्यु हो जाती है। जैसे-साँप आदि का स्पर्श होना, बिजली का छू जाना आदि।

आन-प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास भी मृत्यु का कारण है।

श्वासोच्छ्वास के सर्वथा रुक जाने या अधिक बढ़ जाने से आयु का नाश होता है।

मन्थकारों का कथन है कि मैथुन करने में श्वास अधिक आता है, जिससे आयु नष्ट होता है। इसके विरुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने से आयु का नाश नहीं होता और शरीर में बल भी रहता है।

टीकाकार कहते हैं कि कई बार हजारों आघात होने पर भी मनुष्य बच जाता है, अर्थात् जो स्थान मृत्यु का है, वहाँ तो जीवित रह जाता है और जो जीवन का स्थान है—जहाँ मरने का डर नहीं है वहाँ मनुष्य मर जाता है।

इस कथन पर आशंका की जा सकती है कि फिर ऐसा क्यों समझा जाय कि मृत्यु का कारण यह है और यह नहीं है? इस सम्बन्ध में शास्त्र कहता है कि आयु दो प्रकार की होती है:-(१) निरुपक्रम आयु और (२) सोपक्रम आयु। जो आयु सैकड़ों कारणों से भी अकाल में नष्ट नहीं होती, वह निरुपक्रम आयु कहलाती है। और सोपक्रम आयु के नाश के सात कारण ऊपर दिखलाये गये हैं। उन कारणों से सोपक्रम आयु का बीच में ही नाश हो जाता है।

निरुपक्रम आयु किसे प्राप्त होता है, इस बात का उल्लेख भी शास्त्र में किया गया है। त्रेसठ शलाका-पुरुष, तद्भवमोक्ष-

गामी (उसी भव से मोक्ष पाने वाले), देव और नारक जी निरुपक्रम आयुष्य वाले होते हैं। साधारण मनुष्यों में निरुपक्र आयुष्य होता भी है और नहीं भी होता। अतएव सावधान रखने की आवश्यकता है।

जहाँ सत्य और झूठ-दोनों चलते हों, वहीं सावधान रखने की आवश्यकता है। जो सत्य और असत्य में सावधान रहते हैं, वही असत्य से बच सकते हैं। हमारा आयुष्य सोपक्रम है या निरुपक्रम, यह निश्चित नहीं है, इसलिए सावधानी रखने की आवश्यकता है।

आप कहेंगे, यह तो भय की बात हुई और भय बुरा है। लेकिन भय से घबराना नहीं चाहिए, भय को जितना चाहिए। चोर लूट लेंगे, इस भयसे घबरा कर मरने से काम नहीं चलता। हां, सावधानी से फिर भी काम चल सकता है। अतएव भयभीत न होकर सावधान रहना चाहिए।

शंका करने वाले कह सकते हैं—आयु के विनाश की बात तात्त्विक दृष्टि से शंकास्पद है, कल्पना कीजिए, एक मनुष्य सौ वर्ष की आयु लेकर आया है, परन्तु आयु-नाश का कोई कारण उपस्थित होने से वह बीच में ही मर गया। इस प्रकार उस मनुष्य ने जो आयुकर्म उपार्जित किया था, उसे नहीं भोगा और जो उपार्जित नहीं किया था उसे भोगना पड़ा। अतः कृत का

नाश और अकृत का प्रसंग हुआ। ऐसा मानने से तो मोक्ष तत्त्व भी गड़बड़ में पड़ जायगा।

इसका उत्तर यह है कि जिसे भस्मक व्याधि हो जाती है, वह बहुत दिनों का भोजन थोड़े ही दिनों में नष्ट कर देता है अर्थात् खा लेता है। इसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि कोई वृक्ष अकाल में ही फल देने लगता है। लेकिन ऐसी बातों से कृत का नाश और अकृत के भोग का दोष नहीं आता। जीवने जो आयुकर्म पूर्वभव में बांधा था, वही इस भव में वह भोगता है, दूसरा नहीं भोगता इस लिए कृत का नाश और अकृत का भोग नहीं कहा जा सकता। हां, जो कर्म धीरे-धीरे बहुत वर्षों में भोगना था, वह कारणवश जल्दी–अन्तर्मुहूर्त्त में भी–भोगा जाता है। इसी को आयु का नाश कहते हैं।

एक रस्सी अगर एक सिरे से जलाई जाय तो देर तक जलती है, अगर इकट्ठी करके एक साथ जलाई जाती है तो जल्दी जल जाती है। भीगा हुआ वस्त्र तह करके रख दिया तो देर में सूखता है, अगर फैला दिया तो जल्दी सूख जाता है। पानी का शोषण तो दोनों ही अवस्थाओं में होता है किन्तु एक अवस्था में धीरे-धीरे होता है और दूसरी अवस्था में जल्दी-जल्दी।

इसी प्रकार आयुष्य भी दो प्रकार से भोगा जाता है-प्रदेश से और विपाक से। विपाक से भोगे हुए आयुष्य को तो सभी

जानते हैं किन्तु प्रदेश से भोगे जाने वाले आयुष्य को नहीं जानते। लेकिन इस न जानने के कारण ही कृत का नाश और अकृत का आगमन नहीं होता और न मोक्ष तत्त्व में ही कोई गड़बड़ पड़ती है। आयु का भोग किस प्रकार करना, यह बहुत कुछ अपने हाथ में है। इस संबंध में सावधानी रखनी चाहिए।

आयुष्य सब से बड़ी वस्तु है। सब काम इसी पर निर्भर हैं। खेल तभी तक है, जब तक तेल है। तेल समाप्त हो जाने पर खेल भी खत्म हो जाता है। इस लिए बुद्धिमान् पुरुष खेल करने से पहले देख लेते हैं कि तेल है या नहीं? मनुष्य का जीव विघ्नों से व्याप्त है। आयु कब पूरी हो जायगी, यह नहीं कहा जा सकता। अतएव यह विवेक करने की आवश्यकता है कि पहले क्या करना और पीछे क्या करना चाहिए? सर्वप्रथम धर्म-कार्य कर लेना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् ने फर्माया है कि बाल-मनुष्य को कदाचित् स्वर्ग मिल जाता है, मगर मोक्ष नहीं मिल सकता। इस कथन से स्पष्ट है कि स्वर्ग मिलना कोई बड़ी बात नहीं है, पण्डितपन ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। एकान्त पण्डित मनुष्य का आयुष्य कभी बंधता है और कभी नहीं भी बँधता। आशय यह है कि एकान्त पण्डित प्रथम तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है—इसलिए आयु के बँध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कदाचित् उसी भव

में मोक्ष न हो तो वैमानिक देव होता है और फिर जन्म लेकर आयु का आत्यन्तिक विनाश करके मोक्ष जाता है।

पण्डित मनुष्य वही है जो नरक जाने के काम न करे, तिर्यंच होने के काम न करे, मनुष्य या देव होने के भी काम न करे, वरन् एकान्त मोक्षप्राप्ति के कार्य करे—मोक्ष ही एकमात्र जिस का ध्येय हो।

किस-किस कार्य से कौन-कौन सी गति प्राप्त होती है, यह बात भी ज्ञानियों ने स्पष्ट रूप से बतला दी है। उन्होंने कहा है कि महारंभी, महापरिग्रही पंचेन्द्रियघातक और मद्य-मांस का सेवन करने वाला नरक में जाता है। ऐसे काम करने वाला पण्डित नहीं है, किन्तु सब प्रकार के आरंभ और परिग्रह के त्यागी मुनि ही पण्डित हैं, चाहे वह पढ़े हुए न भी हों। सर्वारंभ और सर्वपरिग्रह को त्यागने वाला अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी की चौकड़ियों को लांघ गया है। अगर उसमें संज्वलन का भी आरंभ और परिग्रह न रहे, तो वह उसी भव में मोक्ष जाता है, अगर वह विद्यमान रहे तो परम्परा से मुक्त होता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! बालपंडित मनुष्य मर कर कहां जाता है ?

जो जीव तत्त्व को जान गया है, जिसने वस्तुस्वरूप को भलीभांति ठीक-ठीक समझ लिया है, परन्तु आंशिकरूप में ही

अपने ज्ञान के अनुसार आचरण कर सकता है अर्थात् जो कुछ बातों को त्याग सका है और कुछ को नहीं त्याग सका है, वह जीव बालपंडित कहलाता है। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर उस जीवने वस्तुस्वरूप को भलीभांति जान लिया है तो उसे पंडित क्यों नहीं कहते ? इसका उत्तर यह है कि अगर पंडितपन सिर्फ ज्ञान पर ही निर्भर होता तो एकान्त पंडित और बालपंडित की व्याख्या में कोई अन्तर न रहता। यद्यपि ज्ञान या बुद्धि बालपंडित और एकान्त पंडित दोनों में ही है, परन्तु पंडितपन या बालपन को यहां ज्ञान या बुद्धि के साथ नहीं जोड़ा गया है। इनका सम्बन्ध क्रिया के साथ है। जो पुरुष ज्ञान के साथ तदनुसार पूरा आचरण भी करता है वही पंडित है, क्योंकि ज्ञान का फल आचरण है और यह फल उसे प्राप्त हो गया है। जिसे पूर्णरूप में चारित्र रूप फल प्राप्त नहीं हुआ कुछ अंश में ही प्राप्त हुआ है, वह न एकान्त पंडित है, न एकान्त बाल है, इस लिए उसे बालपंडित कहते हैं।

जब तक क्रिया की मान्यता रही है, तब तक आनन्द रहा है। जब से लोगों ने क्रिया के प्रति उपेक्षा दिखलाई और कोरे अक्षर ज्ञान में पड़ गये हैं तभी से गड़बड़ हुई है। वास्तव में वही ज्ञान सफल है, जिससे चारित्र की उत्पत्ति हो।

पहले कहा जा चुका है कि जिसके पास जरा भी परिग्रह

नहीं है, जो निरारंभी है वह तीन चौकड़ियों को लांघ गया ह और वही पंडित है। इस प्रकार क्रिया के साथ पंडितपन का सम्बन्ध है अगर क्रिया के साथ पंडितपन का संबंध न जोड़कर ज्ञान के साथ जोड़ा जाता तो बहुत पढ़े आदमी को, चाहे वह क्रिया से सर्वथा हीन ही होता तब भी पंडित कहना होता। और बेपढ़े क्रियावान् को पंडित न कह सकते। ऐसा करने से क्रिया का महत्व नष्ट हो जाता। अतएव क्रिया के साथ ही पण्डितपन का संबंध स्थापित किया गया है।

देव को श्रुतज्ञान है और साधु को आरंभ-परिग्रह से रहित है, उसे ज्ञान अधिक नहीं है। फिर भी पण्डित देव को कहेंगे या आरंभ-परिग्रह के त्यागी साधु को ?

'साधु को !'

देव की बात ही क्या है, देवराज इन्द्र भी आरम-परिग्रह के त्यागी को ही पण्डित कहेगा। अर्थात् यह कहेगा कि जो क्रिया-निष्ट हैं वही धन्य हैं। इस बात को समझने के कारण ही बाल-पण्डितपन आता है। जो इतना भी नहीं समझता और क्रिया से सर्वथा हीन है, वह एकान्त बाल है।

वैद्य स्वास्थ्य के नियमों को जानता है। वह अपनी तबीयत खराब होने पर यदि यह बात स्वीकार करता है कि मुझ से अमुक नियम का पालन नहीं हो सका, तब तो उसका महत्व है, अन्यथा

नहीं। इसी प्रकार यदि इन्द्र से पूछो कि आरंभ-परिग्रह में डूबा हुआ मनुष्य पण्डित है या आरंभ-परिग्रह को त्यागने वाला? तो इन्द्र उत्तर देगा कि आरंभ-परिग्रह को त्यागने वाला ही पंडित है। तब तुम उससे पूछो कि तुम स्वयं आरंभ-परिग्रह को क्यों नहीं त्यागते? इन्द्र उत्तर देगा—'मुझ में इतनी शक्ति नहीं।' अगर इन्द्र इस प्रकार का उत्तर न दे तो उसका ज्ञान भी अज्ञान ही समझना चाहिए।

युद्ध के समय चारण तो केवल गाते ही हैं, मगर वीर पुरुष उस गायन को सुनकर अपना सिर कटवा देते हैं। सिर कटवा देने वाले ही युद्ध-वीर कहलाते हैं, गीत गाने वाले चारण को यह विरुद नहीं मिलता। इसी प्रकार वही पुरुष राजा-महाराजा कहलाते हैं जो सदा सिर कटवाने को उद्यत रहते हैं, चारण तो चारण ही रहते हैं।

मतलब यह है कि बालपंडित की व्याख्या यह है कि जो कुछ क्रिया पाले और कुछ न पाले तथा अपनी कमजोरी को स्वीकार करके आरंभ-परिग्रह के त्यागी को धन्य माने।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—गौतम! बालपंडित मनुष्य भी देवायु का ही बंध करता है। वह नरक, तिर्यंच या मनुष्य का आयुष्य नहीं बांधता।

भगवान् के इस उत्तर पर गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! बालपंडित जीव देवयोनि में ही क्यों जाता है

इसके उत्तरमें भगवान् ने फर्माया—गौतम ! वह बालपंडित मनुष्य तथारूप के श्रमण-माहन के वचन सुनकर देश से आरंभ-परिग्रह का त्याग करता है। इस त्याग के प्रताप से वह जीव तीन गतियों से बच जाता है और चौथी देवगति में ही जन्म लेता है।

प्रत्याख्यान, संवर में है। संवर में मोक्ष की क्रिया होती है। भले ही यह क्रिया थोड़ी हो, परन्तु इसके होने पर मोक्ष की नींव पड़ जाती है। मोक्ष चाहे अनेक जन्मों के बाद मिले, परन्तु वह नरक एवं तिर्यंच योनि में उत्पन्न नहीं होता, केवल देव और मनुष्य ही होता है।

प्रत्याख्यान, संवर में है और शास्त्र के अनुसार देवगति संवर से नहीं, किन्तु आस्रव से होती है। संवर तो मोक्ष का कारण है। अतएव देव होने में प्रत्याख्यान से जो शेष बचता है, उसका भी कुछ प्रताप है एकान्त बालपन को त्यागने का कुछ लाभ हुआ ही, लेकिन त्याग करने से जो शेष रहा उसका भी रस घट गया, अर्थात् वह अप्रत्याख्यानी चौकड़ी से निवृत हो गया, प्रत्याख्यानी क्रिया रही। पहले अव्रत की क्रिया लगती थी, वह प्रत्याख्यान करने पर बंद हो गई। शास्त्र कहता है कि जिसके परिग्रह की ही क्रिया है और अव्रत की क्रिया नहीं है, वह जीव देव या मनुष्य ही होता है, व नरकगति या तिर्यंचगति में नहीं जाता। सारांश यह है कि परिग्रह की जो क्रिया रही है, उसके कारण देवलोक की प्राप्ति होती है, मगर प्रत्याख्यानी क्रिया से ही यह सब होता है।

मृगघातक पुरुष आदि

मूलपाठ—

प्रश्न—पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा, वलयंसि वा, नूमंसि वा, गहणंसि वा, गहणविदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वतविदुग्गंसि वा, वणंसि वा, वणविदुग्गंसि वा, मियवित्तीए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता 'एते मिए' त्ति काउं अगणयरस्स मियस्स वहाए कूड़पासं उद्दाति; ततो णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए पण्णत्ते ?

उत्तर—गोयमा! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा, जाव कूउपासं उद्दाति, तावं च ण से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चतुकिरिए, सिय पंचकिरिए।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—'सिय तिकिरिए, सिय चतुकिरिए, सिय पंचकिरिए?

उत्तर—गोयमा! जे भविए उद्दवणयाए, णो बंधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए. तिहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि, बंधणयाए वि, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, पारितावणियाए—चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि, बंधणताए वि, मारणताए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगर-

णियाए, पाउसिआए, जाव—पाणातिवाय किरियाए—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, से तेणट्ठेणं जाव—पंचकिरिए।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—पुरुषो भगवन् ! कच्छे वा, ह्रदे वा, उदके वा, द्रवके वा, वलये वा, नूमे वा गहने वा, गहन विदुर्गे वा, पर्वते वा, पर्वतविदुर्गे वा, वने वा, वनविदुर्गे वा, मृगवृत्तिकः मृगसङ्कल्पः मृगप्रणिधानो वा मृगवधाय गत्वा 'एते मृगाः' इति कृत्वा अन्यतरस्य वा मृगस्य वधाय कूटपाशं उद्दाति; ततो भगवन् ! स पुरुषः कतिक्रियः प्रज्ञप्तः ?

उत्तर—गौतम ! यावत् च स पुरुषः कच्छे वा, यावत् कूटपाशं उद्दाति, तावत् च स पुरुषः स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगगन् ! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः स्यात् पञ्चक्रियः ?

उत्तर—गौतम ! यो भव्य उद्द्रवणतया, नो बन्धनतया, नो मारणतया तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, तिसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। यो भव्य उद्द्रवणतयाऽपि, बन्धनतयाऽपि,

नो मारणतया तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, पारितापनिक्या, चतसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। यो भव्य उद्द्रवणतयाऽपि, बन्धनतयाऽपि, मारणतयाऽपि, तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, यावत्-प्राणातिपातक्रियया पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। तत् तेनार्थेन यावत् पञ्चक्रियः।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन्! हिरनों से आजीविका चलाने वाला हिरनों का शिकारी और हिरनों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष हिरन को मारने के लिए कच्छ में (नदी के पानी से घिरे हुए झाड़ियों वाले स्थान में) द्रह में जलाशय में, घास आदि के समूह में, वलय (गोलाकार नदी वगैरह के पानी से आड़े-टेढ़े स्थान) में, अंधकार वाले प्रदेश में, गहन में (वृक्ष, बेल आदि के समुदाय में) पर्वत के एक भागवर्ती वन में, पर्वत में, डूंगर वाले प्रदेश में, वन में, और बहुत वृक्षों वाले वन में जाकर 'ये मृग है' ऐसा सोचकर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे अर्थात् गड्ढा बनावे या जाल फैलावे; तो हे भगवन्! वह पुरुष कितनी क्रियाओं वाला कहा गया है?

उत्तर—हे गौतम ! वह पुरुष कच्छ में यावत्-जाल फैलावे तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता है।

प्रश्न—भगवन् ! क्या कारण है कि वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता है ?

उत्तर—गौतम ! जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगों को बांधता नहीं है तथा मृगों को मारता नहीं है, तबतक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी-इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट है अर्थात् तीन क्रिया वाला कहलाता है। और जबतक वह जाल को धारण किये हैं और मृगों को बांधता है, किन्तु मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी-इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट है। और जब वह पुरुष जाल को धारण किये है, मृगों को बांधता है, और मारता है, तब वह कायिकी आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात क्रिया-इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट है-अर्थात् पांच क्रिया वाला है। इस कारण हे गौतम ! वह पुरुष यावत् पांच क्रिया वाला है।

व्याख्यान—

एकान्त पण्डित, एकान्त बाल और बालपण्डित का विचार हो चुका। अब क्रियाओं के विषय में विचार किया जाता है; क्योंकि नरक या देव आदि का आयुष्य क्रिया से ही बँधता है। जीव जैसी क्रिया करता है, वैसा ही आयुष्य बाँधता है।

क्रिया के दो भेद हैं—शुभक्रिया और अशुभक्रिया। अशुभ क्रियाएँ पाँच हैं:-(१) कायिकी-काया द्वारा होने वाला सावद्य व्यापार कायिकी क्रिया है। (२) आधिकरणिकी-हिंसा के साधन जुटाना आधिकरणिकी क्रिया है (३) प्राद्वेषिकी--हिंसा के साधनों का उपयोग करना। (४) पारितापनिकी--जिसे मारने का विचार किया है उसे पीड़ा पहुँचाना। (५) प्राणातिपात क्रिया -जिसे मारने का संकल्प किया था उसे मार डालना।

गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! कच्छ आदि स्थानों में मृग रहते हैं और किसी आदमी ने मृग मारने की आजीविका अङ्गीकार कर रक्खी है। वह आदमी गुफा, जंगल आदि मृग रहने के स्थान पर, मृग मारने के संकल्प से गया। उसने मृग को फँसाने के लिए जाल फैलाया। तो हे भगवन्! उस जाल फैलाने वाले को कितनी क्रियाएँ लगीं ?

भगवान् ने उत्तर दिया- हे गौतम! केवल जाल फैलाने

पर तीन क्रियाएँ लगीं, मृग के फँसने पर चार क्रियाएँ लगीं और मृग को मार डालने पर पाँच लगीं।

शास्त्र में कहा है कि प्रतिक्रमण करने वाला साधु अगर प्रतिक्रमण करने में असावधानी करता है तो उसे पांच क्रियाएँ लगती है। वह छह काय के जीवों का विराधक माना जाता है। इधर गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं कि शिकारी पुरुष ने जब मृग मारने का संकल्प कर लिया है, मृग मारने का उपाय कर लिया है, तब भी उसे तीन ही क्रियाएँ लगती हैं। साधु को प्रतिक्रमण में असावधानी करने मात्र से पांच क्रियाएँ लगती हैं और उस पुरुष को तीन ही लगती हैं। इस अंतर का क्या कारण है?

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! एक आदमी मृग मारने चला। उसने अपने धनुष्य पर बाण चढ़ाया। उसी समय पीछे से कोई दूसरा आदमी आ पहुँचा और उसने बाण चढ़ाने वाले को मार डाला। लेकिन इसी बीच में उस आदमी के हाथ से बाण छूट गया और मृग मर गया। अब इन दो मनुष्यों में से कौन-कौन मनुष्य का घातक है और मृग का घातक है? भगवान् ने उत्तर दिया गौतम! जिसके बाण से मृग मरा, वह मृग–घातक है और जिस ने मनुष्य को मारा, वह मनुष्य घातक है, क्योंकि 'कडमाणे कडे' यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू होता है।

संसार के कानून में भी ऐसा ही अन्तर है। कल्पना कीजिए, एक आदमी किसी आदमी को मारने चला, पर पुलिस ने उसे बीच में ही पकड़ लिया। एक दूसरा मनुष्य किसी को मारने गया, पर वह कुछ घाव ही कर सका, जान से न मार सका और बीच में ही पकड़ लिया गया। तीसेर आदमी ने जाकर किसी को जान से मार डाला। लेकिन कानून के अनुसार इन तीन आदमियों को भिन्न--भिन्न प्रकार की सजा दी जाती है। अगर तीनों को एक ही प्रकार की सजा दी जाय तो संसार में न्याय की व्यवस्था ही न रहे। भगवान् कहते हैं–जब संसार को न्याय देना है तो तीन, चार और पांच क्रियाओं का विचार करो, परन्तु जब स्वयं का विचार करो तब ऐसा समझो कि संकल्प करने मात्र से पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

कभी–कभी संकल्प करने वाला मारने वाले से भी बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ–एक आदमी निशाना लगाना सीख रहा है। अचानक उसका निशाना चूक गया और उसकी गोली से एक आदमी मर गया। क्या संसार के कानून से उसे फांसी की सजा मिलेगी ?

'नहीं !'

क्योंकि उसकी नीयत किसी को मारने की नहीं थी। अतएव उसे सिर्फ असावधानी का दण्ड मिलेगा। इस प्रकार जब राजा नीयत देखकर निर्णय करता है तब धर्म के न्याय में ऐसा क्यों नहीं होगा ?

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्–मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण है।

क्रियाधिकार–

मूलपाठ—

प्रश्न—पुरिसे णं भंते ! कच्छंसिवा, जाव वणविदुग्गंसिवा तणाइं ऊसविय ऊसविय अगणिकायं णिसिरइ। तावं च णं से भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

उत्तर—गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सियपंचकिरिए।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं। उस्सवणत्ताए वि, णिसिरणयाए वि,

णो दहणयाए चउहिं। जे भविए उस्सवणयाए वि, णिसिरणयाए वि, दहणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव-पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा !

प्रश्न—पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा, जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता, 'एते मिय' त्ति काउं अगणयरस्स मियस्स वहाए उसुं णिसिरत्ति ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

उत्तर—गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए !

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! जे भविए णिसिरणा-याए; नो विद्धंसणयाए वि, नो मारणयाए वि

तिहिं। जे भविए णिसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, नो मारणयाए चउहिं। जे भविए णिसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, मारणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे जाव-पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

प्रश्न—पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा, जाव-अणणयरस्स वहाए आयतकण्णायतं उसुं आयायेत्ता चिट्ठेज्जा, अण्णे य से पुरिसे मग्गतो आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य उसू तए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा, से णं भंते! पुरिसे किं मियवेरेणं पुट्ठे? पुरिसवेरेणं पुट्ठे?

उत्तर—गोयमा! जे मियं मारेति, से मियवेरेणं पुट्ठे। जे पुरिसं मारेइ, से पुरिसवेरेणं पुट्ठे?

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'जाव पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?'

उत्तर—गोयमा ! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे संधिते, णिवत्तिज्जमाणे निव्वत्तिते, निसरिज्जमाणे णिसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

'हंता, भगवं ! कज्जमाणे कडे, जाव निसरिज्जमाणे णिसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया।'

से तेणट्ठेणं गोयमा ! जे मियं मारेइ, से पुट्ठे। जे पुरिसं मारेति, से पुरिसवेरेणं पुट्ठे। वाहिं छण्हं मासाणं मरइ, काइयाए, जाव—पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

प्रश्न—पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा, सयपाणिणा वा, से असिणा सीसं छिंदेज्जा ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

उत्तर—गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेइ, से पाणिणा वा, से असिणा सीसं छिंदति, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहि गरणियाए, जाव—पाणातिवात किरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। आसरणवधएण य अणवकंखणवत्तीए णं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

—प्रश्न दो भंते ! पुरिसा सरिसया, सरित्तया, सरिव्वया, सरिसभंड-मत्तोवकरणा, अराणमराणेणं सद्धिं संगामं संगामेंति, तत्थ णं एगे पुरिसे पराइणिति, एगे पुरिसे परायिज्जति; से कहमेयं भंते ! एवं ?

उत्तर—गोयमा ! एवं वुच्चति—सवीरिए परायिणाति, अवीरिए परायिज्जति ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं जाव—परायिज्जाति ?

उत्तर—गोयमा ! जस्स णं वीरियवज्झाइं

कम्माइं णो बद्धाइं, णो पुट्ठाइं, जाव–णो अभिसमण्णागयाइं, णो उदिण्णाइं, उवसंताइं भवंति, से णं परायिणति । जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं, जाव–उदिण्णाइं, णो उवसंताइं भवंति, से णं पुरिसे परायिज्जाति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति–सवीरिए परायिणाति, अवीरिए परायिज्जाति ।

संस्कृत-छाया

प्रश्न—पुरुषो भगवन् ! कच्छे वा यावत् वनविदुर्गे वा तृणानि उत्सर्प्य उत्सर्प्य अग्निकायं निसृजाति, तावच्च स भगवन् ! पुरुषः कातिक्रियः ?

उत्तर—गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! यो भव्य उच्छ्रयणतया तिसृभिः, उच्छ्रयणतयाऽपि, निसर्जनतयाऽपि, नो दहनतया चतसृभिः, यो भव्य

टच्छ्रयणतयाऽपि, निसर्जनतयाऽपि, तावच्च स पुरुषः कायिक्या, यावत्-पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः । तत् तेनार्थेन गौतम !

प्रश्न—पुरुषो भगवन् ! कच्छे वा, यावत् वनविदुर्गे वा मृगवृत्तिकः, मृगसङ्कल्पः मृगप्रणिधानः, मृगवधाय गत्वा 'एते मृगाः' इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय इषुं निसृजति, ततो भगवन् ! स पुरुषः कतिक्रियः ?

उत्तर—गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—यो भव्यो निसर्जनतया, नो विध्वंसनतयाऽपि, नो मारणतयाऽपि तिसृभिः, यो भव्यो निसर्जनतयाऽपि, विध्वंसनतयाऽपि, नो मारणतया चतसृभिः, यो भव्यो निसर्जनतयाऽपि, विध्वंसनतयाऽपि मारणतयाऽपि तावच्च सः पुरुषो यावत्-पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः । तत् तेनार्थेन गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

प्रश्न—पुरुषो भगवन् ! कच्छे वा, यावत् अन्यतरस्स वधाय आयतकर्णायतम् इषुम् आयम्य तिष्ठेत्, अन्यश्च स पुरुषो मार्गतः

आगत्य स्वकपाणिना, असिना शीर्षं छिन्द्यात्, स च इषुः तया चैव पूर्वाऽऽयमनतया तं मृगं विध्येत्, स भगवन् ! पुरुषः किं मृगवैरेण स्पृष्टः ? पुरुषवैरेण स्पृष्टः ?

उत्तर—गौतम ! यो मृगं मारयति स मृगवैरेण स्पृष्टः, यः पुरुषं मारयति स पुरुषवैरेण स्पृष्टः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यत यावत् 'स पुरुषवैरेण स्पृष्टः ।'

उत्तर—तद् नूनं गौतम ! क्रियमाणं कृतम्, संधीयमानं संधितम्, निर्वृत्यमानं निर्वृत्तितम्, निसृज्यमानं निसृष्टम्, इति वक्तव्यं स्यात् ?

'हन्त भगवन् ! क्रियमाणं कृतम्, यावत् निसृज्यमानं निसृष्टम्, इति वक्तव्यं स्यात् ।'

तत् तेनार्थेन गौतम ! यो मृगं मारयति स मृगवैरेण स्पृष्ट, यः पुरुषं मारयति, स पुरुषवैरेण स्पृष्टः; अन्तः षण्णां मासानां म्रियते कायिक्या, यावत् पारितापनिक्या चतसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

प्रश्न—पुरुषो भगवन् ! पुरुषं शक्त्या समभिध्वंसेत, स्वकपाणिना वा, सोऽसिना शीर्षं छिन्द्यात् ततो भगवन् ! स पुरुषः कातिक्रियः ?

उत्तर—गौतम ! यावच्च स पुरुषस्तं पुरुषं शक्त्या समभिध्वंसते तस्य पाणिना वा, तस्याऽसिना शीर्षं छिनत्ति, तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, यावत्—प्राणातिपातक्रियया पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। आसन्नवधकेन च अनवकाङ्क्षण वृत्तिकेन पुरुष-वैरेण स्पृष्टः।

प्रश्न—द्वौ भगवन् ! पुरुषौ सदृशौ, सदृक्त्वचौ, सदृग्वयसौ, सदृग्भाण्डमात्रोपकरणौ अन्योन्येन सार्धं संग्रामं संग्रामयेते. तत्र एकः पुरुषः पराजयते, एकः पुरुषः पराजीयते। तत् कथमेतद् भगवन् एवम् ?

उत्तर—गौतम ! एवमुच्यते-सवीर्यः पराजयते, अवीर्यः पराजीयते।

प्रश्न—तत् केनार्थेन यावत् पराजीयते ?

उत्तर—गौतम ! यस्य वीर्यवर्जानि कर्माणि नो बद्धानि, नो स्पृष्टानि यावद् नो अभिसमन्वागतानि, नो उदीर्णानि, उपशान्तानि, भवन्ति, स पराजयते। यस्य वीर्यवर्जानि कर्माणि बद्धानि, यावत् उदीर्णानि, नो उपशान्तानि भवन्ति, स पुरुषः पराजीयते। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते सवीर्यः पराजयते, अवीर्यः पराजीयते।

मूलार्थ—

प्रश्न-भगवन् ! कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में (अनेक वृक्षों वाले वन में) कोई पुरुष तिनके इकट्ठे करके उन में आग डाले। तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला कहा जायगा ?

उत्तर-गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाएगा।

प्रश्न-भगवन् ! इस का क्या कारण ?

उत्तर-गौतम ! जब तक वह पुरुष तिनके इकट्ठे करता है, तब तक वह तीन क्रिया वाला कहलाता है। जब वह तिनके इकट्ठे कर लेता है और उनमें आग डालता है किन्तु जलाता नहीं है, तब तक वह चार क्रिया वाला कहलाता है और जब वह तिनके इकट्ठे करता है, आग डालता है और जलाता है, तब वह पुरुष कायिकी आदि यावत् पांच क्रिया वाला कहलाता है। इस लिए हे गौतम ! इस कारण पूर्वोक्त कथन किया है।

प्रश्न-भगवन् ! मृगों से आजीविका चलाने वाला,

मृगों का शिकारी और मृगों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष, मृगों को मारने के लिए कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में जाकर 'यह मृग है' ऐसा सोच कर मृग को मारने के लिए बाण फेंकता है, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला कहलाएगा ?

उत्तर-गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहा जाएगा।

प्रश्न-भगवन् इसका क्या कारण ?

उत्तर-गौतम ! जब तक वह पुरुष बाण फेंकता है, पर मृग को वेधता नहीं है, तथा मृग को मारता नहीं है, तब वह पुरुष तीन क्रिया वाला कहा जाता है। जब वह बाण फेंकता है और मृग को वेधता है, पर मृग को मारता नहीं है, तब तक वह चार क्रिया वाला कहलाता है और जब वह बाण फेंकता है, मृग को वेधता है और मारता है, तब वह पुरुष पांच क्रिया वाला कहलाता है। इस लिए हे गौतम ! इस कारण कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदा-

चित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलता है।

प्रश्न–भगवन्! कोई पुरुष कच्छ में, यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक लंबे किये हुए बाण को प्रयत्न पूर्वक खींच कर खड़ा हो। और दूसरा कोई पुरुष पीछे से आकर उस खड़े हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से, तलवार द्वारा काट डाले। वह बाण पहले के खिचाव से उछल कर उस मृग को बध डाले तो हे भगवन्! वह पुरुष मृग के वैर से स्पृष्ट है या पुरुष के वैर से स्पृष्ट है?

उत्तर–गौतम! जो पुरुष मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष, पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है कि–यावत् 'वह पुरुष, पुरुष से स्पृष्ट है?'

उत्तर गौतम! यह निश्चित है कि जो क्रिया जा रही है वह क्रिया हुआ कहा जाता है, जो मारा जा रहा है वह

मारा हुआ कहलाता है, जो जलाया जा रहा है वह जलाया हुआ कहलाता है और जो फेंका जा रहा है वह फेंका हुआ कहलाता है ?

—'भगवन् ! हां, जो किया जा रहा है वह किया कहलाता है और-यावत् जो फेंका जा रहा है वह फेंका हुआ कहलाता है।

इस लिए हे गौतम ! इसी कारण जो मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट कहलाता है और जो पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है। और अगर मरने वाला छह मास के भीतर मरे तो मारने वाला कायिकी यावत्-पांच क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है। अगर मरने वाला छह मास के बाद मरे तो मारने वाला पुरुष कायिकी यावत्-पारितापनिकी क्रिया से-चार क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है।

प्रश्न—भगवन् ! कोई पुरुष, किसी पुरुष को बरछी से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होगा ?

उत्तर-गौतम ! जब तक वह पुरुष उसे बरछी द्वारा मारता है अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तब वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी यावत् प्राणातिपात क्रिया से-पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है और वह पुरुष, आसन्नवधक तथा दूसरे के प्राणों की परवाह नहीं करने वाला पुरुष वैर से स्पृष्ट होता है।

प्रश्न-भगवन् ! एक सरीखे, सरीखी चमड़ी वाले, सरीखी उम्र वाले, सरीखे द्रव्य और उपकरण (शस्त्र आदि) वाले, कोई दो पुरुष आपस में एक दूसरे के साथ संग्राम करें। उस में एक पुरुष जीतता है और एक पुरुष हारता है। हे भगवन् ! यह ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर-गौतम ! जो पुरुष वीर्य वाला होता है वह जीतता है और जो वीर्यहीन होता है वह हारता है।

प्रश्न-भगवन् ! इस का क्या कारण है कि यावत्-'वीर्यहीन हारता है'।

उत्तर-गौतम ! जिसने वीर्यरहित कर्म नहीं बांधे,

नहीं स्पर्श किये, यावत् नहीं प्राप्त किये, और उसके वह कर्म उदय में नहीं आये हैं, पर उपशान्त हैं, वह पुरुष जीतता है। जिसने वीर्यरहित कर्म बांधे हैं, स्पर्श किये हैं और यावत्-उसके वह कर्म उदय में आये हैं पर उपशान्त नहीं हैं, वह पुरुष पराजित होता है। इस लिए हे गौतम! इस कारण ऐसा कहा है कि वीर्य वाला पुरुष जीतता है और वीर्यहीन हारता है।

व्याख्यान-

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं-भगवन्! जंगल, वन आदि किसी भी जगह कोई आदमी घास इकट्ठा करके उस में आग लगाना चाहता है। तो आग लगाने से क्रिया लगती है या नहीं? अगर लगती है तो कितनी क्रियाएँ लगती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया-गौतम! आग लगाने में भी तीन, चार या पांच क्रियाएँ लगती हैं। जब घास में आग लगाने का संकल्प किया, और घास इकट्ठा करने का निश्चय किया, तब तीन क्रियाएँ लगीं। घास इट्ठा करने में प्राणियों को कष्ट हुआ, इस लिए उस समय चार क्रियाएँ हुई। फिर घास में जब आग लगादी, जिससे अनेक प्राणी मरे, तब पांच क्रियाएँ हुई।

इन प्रश्नोत्तरों में देखना यह है कि कहां तो मृग मारने की क्रिया और कहां आग लगाने की क्रिया; दोनों में बहुत अन्तर नजर आता है। फिर दोनों क्रियाएँ बराबर कैसे हुई ? इसके अतिरिक्त जीवन के लिए आग आवश्यक है। कर्मभूमि का पहला चिह्न आग ही है। कई लोग अग्नि को सहायक मान कर उसकी पूजा भी करते हैं। सांसारिक जीवन आग के आरंभ बिना निभ नहीं सकता। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या मृग मारने वाला और अग्नि का आरंभ करने वाला, क्रिया के लिहाज से बराबर है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक क्रिया हल्की भी होती है और भारी भी होती है। आग लगाने वाले को आग की क्रिया लगती है और मृग मारने वाले को मृग मारने की क्रिया लगती है। उदाहरण के लिए—एक आदमी पर पाँच कौड़ी का कर्ज है और दूसरे आदमी पर पाँच रुपये का कर्ज है। यहाँ कर्ज दोनों पर है और पाँच की संख्या भी समान है, तथापि एक का कर्ज हल्का और दूसरे का भारी है। दोनों में यह बहुत अन्तर है।

अब यह देखना चाहिए कि अग्नि में भी जीव होते हैं। उन जीवों की क्रिया लगती है या नहीं ? शास्त्र कहता है—आग में भी जीव हैं। महाभारत भी पाँच प्रकार के स्थावर योनि वाले जीवों को स्वीकार करता है। कई लोगों का कथन है कि वृक्ष में जीव नहीं है, मगर यह कथन ठीक नहीं है। उद्भिज-जीव, जो जमीन

फोड़ कर निकलते हैं, वह झाड़ हैं। जगदीशचन्द्र बसु ने भी झाड़ में जीव सिद्ध किये हैं।

सार यह है कि मृग मारने में त्रस जीव की हत्याकी क्रिया लगती और आग जलाने में स्थावर जीव की क्रिया लगती है। स्थावर योनि के भी जीव होते हैं। ऐसा न होता तो संयमी को आग जलाने से न रोका जाता। मगर संयमी के लिए आग जलाने का निषेध किया गया है। मनु ने पाँच सूना-कर्म बतलाये हैं। उन में एक चूल्हा, दूसरा चक्की, तीसरा ऊखला, चौथा परिंडा और पाँचवाँ झाड़ू है। गृहस्थ को यह पाँच कर्म लगते ही हैं। अगर गृहस्थ इन्हें छोड़ने चले तो उसे दूसरी प्रकार की और अधिक क्रियाएँ लगेंगी। हाँ, मुनिधर्म का पालन करने की इच्छा वाला पुरुष इन्हें अवश्य छोड़ता है और उसे छोड़ना भी चाहिए। सूनाकर्म से बचने के लिए बहुत-से सत्कार्य बतलाये हैं; जैसे अतिथि सत्कार आदि। इस प्रकार गृहस्थ जीवन में क्रिया लगती तो है ही, मगर जहाँ तक बन सके, भारी क्रिया नहीं लगने देना चाहिए। मृग मारे बिना संसार का काम चल सकता है, मगर आग के बिना नहीं चल सकता। फिर भी तीन, चार और पाँच क्रियाओं का विचार रखना ही चाहिए।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! एक आदमी मृग मारने की आजीविका करता है। वह दिन-रात मृग मारने का

ही अध्यवसाय रखता है। ऐसा मनुष्य वन, झाड़ी आदि किसी स्थान पर जाकर 'यह मृग है, इन्हें मारूँ' ऐसा संकल्प करके उन पर बाण का संधान करता है। भगवन्! इस पुरुष को बाण छोड़ने पर कितनी क्रियाएँ लगेंगी ?

गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया-हे गौतम ! कदाचित् तीन क्रियाएँ लगती है, कदाचित् चार और कदाचित् पांच।

तब गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन्! ऐसा क्यों भगवान् ने कहा-गौतम ! उस आदमी ने बाण चलाया है मगर वह अभी बीच में ही है-मृग को लगा नहीं है। तब तक उसे तीन क्रियाएँ लगती हैं। जब मृग को बाण लग गया और उसे पीड़ा हो रही है, पर मरा नहीं है, तब तक चार क्रियाएँ लगती हैं और मर जाने पर पाँच क्रियाएँ लगती हैं।

यहाँ विचारणीय यह है कि शिकारी ने मृग को मारने का संकल्प किया, उस की नीयत उसे मारने की हो गई, फिर भगवान् ने तीन, चार और पाँच क्रियाएँ क्यों कही हैं ? क्या शारीरिक क्रिया ही हिंसा का कारण है ? मन के विचार का पाप नहीं लगता है ? मगर ऐसा नहीं है तो इस कथन का आशय क्या है ?

शास्त्र में कायिक और मानसिक-दोनों प्रकार के पाप बतलाये गए हैं। मानसिक क्रिया से मानसिक और कायिक क्रिया से कायिक पाप लगता है। व्यवहार में शारीरिक क्रिया ही मुख्यता से ली जाती है और निश्चय में तो मानसिक संकल्प होते ही जीव पापी बन जाता है। निश्चय की बात व्यवहार में नहीं ला सकते। उदाहरणार्थ-किसी राजा को योग सिद्ध है। कौन आदमी क्या संकल्प करता है, यह बात उसे मालूम है। लेकिन वह अगर संकल्प के आधार पर ही सजा देने बैठे तो नित्य न जाने कितने आदमी दण्ड भोगेंगे और बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी। मतलब यह है कि केवल संकल्प ही मानने से व्यवस्था नहीं रह सकती। व्यवहार के साथ संकल्प का विचार तो किया जाता है, पर केवल संकल्प व्यवहार में नहीं देखा जाता। राजकीय कानून के अनुसार भी अगर कोई आदमी किसी आदमी पर गोली चलावे, पर गोली लगे नहीं और जिस पर गोली चलाई गई है, वह बच जाय तो गोली चलाने वाले को फाँसी की सजा नहीं होती। अर्थात् मारने वाले ने जिसके सम्बन्ध में संकल्प किया है, उसकी हानि का भी विचार किया जाता है। इसी प्रकार मृग मारने का संकल्प करने से निश्चय में तो पाँच क्रियाएँ लगीं, मगर व्यवहार में तीन, चार और पाँच क्रियाओं का भेद है।

यद्यपि पाप की जड़ मन ही है, परन्तु व्यवहार में पाप-

कार्य देख कर ही किसी को पापी कहा जा सकता है। मन में पाप करने का संकल्प हुआ, किन्तु पीछे मन में ही उस पाप के विषय में पश्चाताप कर लिया, तो मानसिक पाप का प्रायश्चित्त मानसिक पश्चाताप से ही हो जाता है।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! एक पुरुष मृग मारने की आजीविका करता है। वह मृग मारने के उद्देश्य से वन में गया। उसने 'यह मृग है' ऐसा कह कर किसी एक मृग पर बाण चढ़ाया। वह बाण छोड़ने को ही था कि पीछे से एक और आदमी आ गया और उसने बाण चढ़ाने वाले पुरुष को मार डाला। परन्तु बाण चढ़ाने वाले आदमी के हाथ से बाण छूट गया और उससे वह मृग मर गया। तो पीछे से आकर मारने वाला पुरुष मृग के वैर से स्पृष्ट हुआ या पुरुष के वैर से स्पृष्ट हुआ? पहले पुरुष का सिर कट गया था और सिर कटने के बाद बाण छूटा। ऐसी दशा में उस पुरुष को मारने वाले दूसरे पुरुष को पुरुष और मृग—दोनों का वैर लगा अथवा केवल पुरुष या केवल मृग का?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने दिया—गौतम! जो पुरुष, पुरुष को मारने के लिए तत्पर हुआ उसे पुरुष का वैर लगा और जो मृग मारने के लिए तत्पर हुआ उसे मृग का वैर लगा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन्! उस पुरुष का सिर

थी पहले ही कट गया था, फिर उसे मृग का वैर क्यों लगा? दूसरे पुरुष ने पहले पुरुष की हत्या की, इससे पहले पुरुष के हाथ से बाण छूटा और मृग मर गया। इस कारण दोनों हत्याएँ उस दूसरे पुरुष को क्यों नहीं लगतीं?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! 'कडमाणे कडे' यानी जो काम करने लगे वह किया, जो निकल रहा है वह निकला, कहना चाहिए। पहले आदमी ने मृग मारने का संकल्प करके बाण चढ़ाया, तो समझना चाहिए कि उसने मृग की हिंसा कर दी।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! एक पुरुष की शक्ति लेकर कोई दूसरा पुरुष जिसकी शक्ति है, उसी को मारने लगे तो उसे कितनी क्रियाएँ लगेंगी? भगवान् ने उत्तर दिया गौतम! तीन क्रिया, चार क्रिया और पाँच क्रियाएँ लगेंगी।
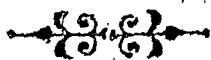
वीर्यविचार

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवा णं भंते ! किं सविरिया, अविरिया ?

उत्तर—गोयमा ! सवीरिया वि, अवीरिया वि।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता ! तं जहा-संसारसमावण्णगा य असंसारसमावण्णगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अवीरिया । तत्थ जे ते

संसारसमावरणगा ते दुविहा पराणत्ता । तं जहा-से लेसिपडिवरणगा य, असेलेसिपडिवण्णगा य । तत्थ णं जे ते से लेसिपडिवरणगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया । तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवण्णगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-'जीवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-'सवीरिया वि, अवीरिया वि ।'

प्रश्न—णेरइया णं भंते ! किं सवीरिया, अवीरिया ?

उत्तर—गोयमा ! णेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि अवीरिया वि ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर— गोयमा। जेसि णं णेरइयाणं अत्थि उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरिए पुरिसकारपरक्कमे, ते णं णेरइया लद्धिवीरिएणं वि सवीरिया, करणवीरिएण वि सवीरिया। जेसि णं णेरइयाणं णत्थि उट्ठाणे जाव-परक्कमे, ते णं णेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। से तेणट्ठेणं०।

जहा णेरइया, एवं जाव-पंचिंदियतिरिक्खजोणिया। मणूसा जहा ओहिया जीवा। णवरं-सिद्धवज्जा भाणियव्वा। वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा णेरइया।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति जाव विहरइ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—जीवा भगवन्! किं सवीर्याः, अवीर्याः?

उत्तर—गौतम! सवीर्या अपि, अवीर्या अपि।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-संसारसमापन्नकाश्च, असंसारसमापन्नकाश्च तत्र ये तेऽसंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाः, सिद्धा अवीर्याः । तत्र ये ते संसारसमापन्नकास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-शैलेशीप्रतिपन्नकाश्च, अशैलेशीप्रतिपन्नकाश्च । तत्र ये ते शैलेशीप्रतिपन्नकास्ते लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येणाऽवीर्याः । तत्र ये ते अशैलेशीप्रतिपन्नकास्ते लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण सवीर्या अपि, अवीर्या अपि । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते-'जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा--सवीर्या अपि, अवीर्या अपि ।'

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! किं सवीर्याः, अवीर्याः ?

उत्तर—गौतम ! नैरयिका लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण सवीर्या अपि, अवीर्या अपि ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! येषां नैरयिकाणाम् अस्ति उत्थानम्, कर्म, बलम् वीर्यम्, पुरुषकारपराक्रमस्ते नैरयिका लब्धिवीर्येणाऽपि सवीर्याः, करणवीर्येणाऽपि सवीर्याः । येषां नैरयिकाणां नास्ति उत्थानम्, यावत् पराक्रमस्ते नैरयिका लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण अवीर्याः । तत् तेनार्थेन० ।

यथा नैरयिकाः, एवं यावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः। मनुष्या यथा औधिका जीवाः। नवरम्--सिद्धवर्जा भणितव्याः। वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिका यथा नैरयिका।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति यावत् विचरति।

मूलार्थ—

प्रश्न—भगवन्! क्या जीव वीर्यवाले हैं या वीर्य-रहित हैं?

उत्तर—गौतम! वीर्यवाले भी हैं और वीर्यरहित भी हैं।

प्रश्न—भगवन्! इस का क्या कारण है?

उत्तर—गौतम! जीव दो प्रकार के हैं-संसारसमापन्नक (संसारी) और असंसारसमापन्नक (सिद्ध)। उन में जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध जीव हैं और वे वीर्यरहित हैं। जो जीव संसारसमापन्नक हैं, वे दो प्रकार के हैं-शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। उन में जो शैलेशीपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं। और करणवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं। तथा उनमें जो अशैलेशीप्रतिपन्न हैं वे लब्धिवीर्य से सवीर्य हैं, किन्तु करण-

वीर्य से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। इसलिए, गौतम! ऐसा कहा है कि 'जीव दो प्रकार के हैं—सवीर्य भी और अवीर्य भी।

प्रश्न—भगवन्! नारकी जीव वीर्यवाले हैं या वीर्य-रहित हैं?

उत्तर—गौतम! नारकी लब्धिवीर्य से सवीर्य और करणवीर्य से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

प्रश्न—भगवन्! इस का क्या कारण है?

उत्तर—गौतम! जिन नारकियों के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम है वे नारकी लब्धिवीर्य और करणवीर्य से भी सवीर्य हैं और जो नारकी उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम से रहित हैं, वे नारकी लब्धिवीर्य से सवीर्य हैं और करणवीर्य से अवीर्य हैं। अत एव हे गौतम! इस कारण पूर्वोक्त कथन किया गया है।

इस प्रकार, यावत्-पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले जीवों तक नारकियों के समान समझना। मनुष्यों के विषय में सामान्य जीवों के समान समझना। विशेषता यह है कि

कि सिद्धों को छोड़ देना। तथा वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक, नारकियों के समान जानना।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कह कर गौतम स्वामी विचरते हैं।

व्याख्यान —

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! सब जीव बल, वीर्य पराक्रम से युक्त हैं या नहीं? भगवान्! ने फर्माया—गौतम! सहित भी हैं और रहित भी हैं। जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारी और सिद्ध। सिद्ध जीव लब्धि पराक्रम वाले नहीं होते। वे कृत्य-अकृत्य से परे हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं—किसी में लब्धिवीर्य होता है, किसी में करणवीर्य होता है। किसी में दोनों प्रकार का वीर्य होता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव में भी वीर्य होता है या नहीं? भगवान् ने उत्तर दिया-गौतम! होता है वे लब्धिवीर्य और करणवीर्य-दोनों से सवीर्य हैं; मगर कभी करण-वीर्य होता है, कभी किसी को नहीं भी होता।

नरक के जीवों के समान भवनवासी, अग्निकाय, पृथ्वी-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, ज्योतिषी देव और वैमानिक देव

आदि सब जीवों के विषय में अलग-अलग प्रश्न किये और भगवान् ने उत्तर दिया—यह सब सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

एक प्रकार का आत्मबल, वीर्य कहलाता है। जब वह आत्मबल किसी प्रकार की क्रिया नहीं करता, तब लब्धिवीर्य कहलाता है और जब क्रिया में व्यावृत होता है, तब करणवीर्य कहलाता है।

भगवान् के उत्तर सुनकर गौतम स्वामी कहने लगे—प्रभो! आप का कथन सत्य है, तथ्य है। ऐसा कह कर वह संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

श्री विवाह प्रज्ञप्ति सूत्र का
आठवाँ उद्देशक समाप्त
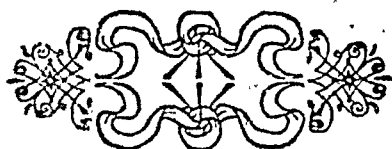
श्रीमद्भगवती सूत्र

प्रथम शतकः— नवम् उद्देशक

(कपासन-चातुर्मास)

जीवों का गुरुत्व-लघुत्व

मूल पाठ—

प्रश्न—कह णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वं आगच्छंति ?

उत्तर—गोयमा ! पाणाइ वाएणं, मुसा-वाएणं, अदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं, परिग्गहेणं,

कोह-माण-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भ-क्खाण-पेसुन्न-अरतिरति-परपरिवाय-मायामोस-मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवा गरुयत्तं हव्वं आगच्छंति।

प्रश्न—कह णं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वं आगच्छंति?

उत्तर—गोयमा! पाणाइवायवेरमणेणं, जाव मिच्छादंसणसल्लविरमणेणं, एवं खलु गोयमा! जीवा लहुयत्तं हव्वं आगच्छंति।

एवं संसारं आउलीकरेंति, एवं परित्ती-करेंति, एवं दीहीकरेंति, एवं हस्सीकरेंति, एवं अणुपरियट्टंति, एवं वीतिवयंति। पसत्था चत्तारि, अप्पसत्था चत्तारि।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—कथं भगवन्! जीवा गुरुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति?

उत्तर—गौतम ! प्राणातिपातेन, मृषावादेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण, क्रोध-मान-माया-लोभ-प्रेम-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-अरतिरति-परपरिवाद-मायामृषा-मिथ्यादर्शन शल्येन, एवं खलु गौतम ! जीवा गुरुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति ।

प्रश्न—कथं भगवन् ! जीवा लघुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति ?

उत्तर—गौतम ! प्राणातिपात विरमणेन, यावद् मिथ्यादर्शन शल्पविरमणेन, एवं खलु गौतम ! जीवा लघुकत्वं शीघ्रमागच्छन्ति ।

एवं संसारमाकुलीकुर्वन्ति, एवं परीतीकुर्वन्ति, एवं दीर्घीकुर्वन्ति, एवं ह्रस्वीकुर्वन्ति, एवं अनुपरिवर्त्तन्ते, एवं व्यतिव्रजन्ति । प्रशस्तानि चत्वारि; अप्रशस्तानि चत्वारि ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जीव गुरुता—भारीपन किस प्रकार शीघ्र पाते हैं ?

उत्तर—गौतम ! प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेम से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान (दोषारोपण करने) से, चुगली खाने से, अरति-रति से,

पराई निन्दा से, कपटपूर्वक मिथ्या भाषण से, और मिथ्या दर्शन शल्य से, हे गौतम ! इस प्रकार जीव शीघ्र भारीपन पाते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! जीव लघुता (हल्कापन) किस प्रकार शीघ्र पाते हैं ?

उत्तर—गौतम ! प्राणातिपात के त्याग से और यावत् मिथ्या दर्शन के त्याग से-सम्यग्दृष्टि बनने से; हे गौतम ! इस प्रकार जीव शीघ्र लघुपन प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जीव प्राणातिपात आदि के करने से संसार को बढ़ाते हैं, लम्बा करते हैं और भव-भ्रमण करते हैं तथा प्राणातिपात आदि से निवृत होकर जीव संसार को घटाते हैं, छोटा करते हैं-और संसार को लांघ जाते हैं। इन में चार-हल्कापन, संसार को घटाना, छोटा करना और लांघ जाना-प्रशस्त हैं और चार-भारीपन, संसार को बढ़ाना लम्बा करना और संसार भ्रमण करना-अप्रशस्त हैं।

व्याख्यान—

आठवें उद्देशक में आत्मा के बल, वीर्य और पराक्रम का वर्णन किया गया है। संसार में सर्वत्र शक्ति का ही सन्मान होता

है। शक्ति के बिना कहीं पूछ नहीं। सोने की अधिक और पीतल की कम कद्र क्यों है? इस पर विचार करने से भी यही मालूम होगा कि पीतल की अपेक्षा सोने में अधिक शक्ति है। सोने में इतनी ताकत है कि उसका कितना भी पतला तार बना कर खींचा जाय, पर वह टूटेगा नहीं। पीतल में यह बात नहीं है। वह थोड़े से ही आघात से टूट जाता है। इसी अन्तर के कारण पीतल की अपेक्षा सोने की कदर ज्यादा है।

सोने को पहचानने वाला आत्मा ही है। जब सोने में भी यह शक्ति है तो उसे पहचानने वाले आत्मा में कितनी शक्ति होनी चाहिए? आखिर सोने की कीमत आंकने वाला आत्मा ही है। आत्मा की जो शक्ति है उसी को वीर्य कहते हैं।

आत्मा में जो शक्ति है, उसका उपयोग दो प्रकार से होता है-एक तो उस ताकत से और ताकत बढ़ाना और दूसरे उस ताकत से ही ताकत घटाना। वीर्य से ही अच्छा या बुरा काम होता है। वीर्य (ताकत) के बिना पाप या धर्म कुछ भी नहीं हो सकता। आत्मा में जो शक्ति है, उसका उपयोग पाप या धर्म-किसी में भी हो सकता है, मगर पाप से जीव भारी होता है और धर्म से हलका होता है। जीव किस प्रकार भारी होता है और किस प्रकार हलका होता है, यह बात इस नौवें उद्देशक में बतलाई गई है। प्रथम शतक के आरम्भ में जो संग्रहगाथा आई

है, उसमें यह कहा गया है कि नौ उद्देशक में जीव की गुरुता का वर्णन किया जायगा। इस प्रतिज्ञा को निभाने के लिए भी इस उद्देशक में यह बतलाया गया है कि जीव किस प्रकार भारी होता है ?

तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति गुरु का विनय करने से ही हो सकती है। गुरु की सेवा-भक्ति से जो काम होता है, व गरूर से नहीं हो सकता।

आत्मा की गुरुता का प्रश्न करने वाले गौतम स्वामी हैं वह चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक थे। फिर भी वह कितने विनयवान् थे।

गौतम स्वामी ने इतनी नम्रता क्यों दिखलाई है ? वह अपने लिए ही यह नम्रता नहीं दिखला रहे हैं, किन्तु सारे संसार के लिए भी उन्होंने नम्रता प्रदर्शित की है।

जीव के अनेक भेद हैं। जीव, शिव, आत्मा, परमात्मा, परमब्रह्म आदि जीव के अनेक भेद हैं। लेकिन यह भेद क्रिया से हैं। जीव जैसी क्रिया करता है, वैसा ही बन जाता है। अच्छी क्रिया करने से जीव, शिव बन जाता है।

गौतम स्वामी, भगवान् से पूछते हैं—प्रभो ! मेरा, आप का और सारे संसार के प्राणियों का जीव एक सरीखा है। फिर भी कोई-कोई जीव भारी क्यों होते हैं ?

गौतम स्वामी को दूसरों की चिन्ता क्यों हुई ? वह स्वयं तो हल्के ही थे, फिर संसार के जीवों की चिन्ता उन्होंने क्यों की है ? आजकल के लोग स्वार्थी बन बैठे हैं, इसलिए भले ही ऐसा विचार करें, परन्तु साधुता तो दूसरों के कल्याण को अपना ही कल्याण समझने में है। और भगवान् भी कितने करुणा-सागर थे ! उन्होंने गौतम के प्रश्न के उत्तर में यह नहीं फर्माया कि:–गौतम, तू साधु है। तुझे दुनिया से क्या सरोकार है। किन्तु भगवान् भी सोचते हैं कि–'शिष्य ऐसा ही होना चाहिए जो संसार के कल्याण की बात सोचे और पूछे। इस शिष्य के प्रश्न से जान पड़ता है कि इसने मुझे पहचान लिया है कि मेरा जीवन परमार्थ के लिए ही है !'

कल्पना कीजिए, एक राजा के पास दो आदमी जाते हैं। एक अपने लाभ की वस्तु ही मांगता है और दूसरा आदमी राजा से कहता है–आप की प्रजा को अमुक दुःख है, प्रजा में अमुक गुण की कमी है और फलां काम करने से प्रजा का उत्थान होगा। अब राजा इन दोनों आदमियों में से किसे कैसा समझेगा ? अपने स्वार्थ की बात करने वाले को भला समझेगा या प्रजा की भलाई की बात बतलाने को भला समझेगा ? राजा अगर समझदार है तो निःस्संदेह प्रजा के हित की चिन्ता करने वाले को अच्छा समझेगा और स्वार्थी मनुष्य को पसंद नहीं करेगा।

जब एक राजा भी स्वार्थ की बात सुनना पसंद नहीं करता तो तीन लोक के नाथ, देवाधिदेव, जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर डाले हैं, स्वार्थ की बात से किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं ? वे भी गौतम स्वामी के परमार्थ सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर प्रसन्न हुए हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् बोले—हे गौतम ! जीव अठारह पापों से भारी होता है। अठारह पाप थोड़े में इस प्रकार हैं:—

(१) पहला पाप प्राणातिपात अर्थात् हिंसा है।

(२) दूसरा पाप झूठ है।

(३) तीसरा पाप चोरी है।

(४) चौथा पाप मैथुन है।

(५) पाँचवाँ पाप परिग्रह है। जो वस्तु वास्तव में अपनी नहीं है, उस पर ममत्व का भाव रखना परिग्रह कहलाता है।

जैन शास्त्रों में तो परिग्रह को पाप बतलाया ही है, पर अन्यान्य ग्रन्थों से भी प्रमाण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि अनधिकार्य वस्तु पर ममत्व रखना पाप है। यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि इसे सभी एक स्वर से परिग्रह को पाप

स्वीकार करते हैं। उपनिषद् में कहा है—धन पर ममता-मुर्छा क्यों रखता है ! धन किसका है, कि तू उस पर मूर्छा धारण करता है।

लोग सोने के जो कड़े हाथों में पहने रहते हैं, वही अगर उनके सिर पर मारे जावें तो उन्हें चोट पहुँची या नहीं ? फिर इन पर इतनी ममता क्यों है ?

(६) छटा पाप क्रोध है (७) सातवाँ मान (८) आठवाँ माया (९) नौवाँ लोभ (१०) दसवाँ राग (११) ग्यारहवाँ पाप द्वेष है। यद्यपि राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ में आ जाते हैं, पर खुलासा करने के लिए उन्हें अलग गिनाया है।

किसी वस्तु पर ममत्व करके, उस ममत्व में रँग जाना राग कहलाता है। 'रज्यते इति रागः' अर्थात् ममता का रंग चढ़ जाना राग है। जैसे कपड़े पर रंग चढ़ता है, उसी प्रकार आत्मा पर ममत्व-भाव से जो रंग चढ़ता है, वह राग है। और 'द्वेषणं द्वेष' किसी पर घृणा करना, नफरत करना द्वेष कहलाता है।

राग और द्वेष दोनों का नाम गिनाने का अभिप्राय यह है कि जहाँ द्वेष होता है वहाँ राग अवश्य होता है। इसी प्रकार जिस वस्तु पर राग है, उस वस्तु को हरण करने या बिगाड़ने पर द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। राग और द्वेष से बचने के लिए ही संसार की वस्तु पर से ममत्व हटाया जाता है।

(१२) बारहवाँ पाप कलह है। मुँह से लड़ना झगड़ना कलह कहलाता है। (१३) तेरहवाँ पाप अभ्याख्यान है। किसी पर झूठा दोषारोपण करना, अचोर को चोर, अव्यभिचारी को व्यभिचारी कह देना आदि अभ्याख्यान कहलाता है। (१४) चौदहवाँ पाप पिशुनता है। पिशुनता का अर्थ चुगली खाना है। आजकल चुगलखोर को मुखबिर कहते हैं, मगर उसे चुगलखोर ही समझना चाहिए। ऐसा आदमी प्रत्यक्ष में किसी से कुछ नहीं कह सकता, न कुछ बोल या समझा ही सकता है, लेकिन चुगली खाता है।

(१५) पन्द्रहवाँ पाप परपरिवाद है। जिससे दूसरे को दुख हो, इस तरह दूसरे की बुराई बोलना परपरिवाद कहलाता है। यह पाप है। मीठा खाने पर जबान भी मीठी होती है और कड़वा खाने पर जबान भी कड़वी होती है। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि जबान से किसी की बुराई करने से मेरी जबान खराब होगी और जिस की बुराई की जाती है उससे भी पहले बुराई करने वाला ही बुरा गिना जायगा।

पड़ोस के मार्ग के बीचोंबीच कोई टट्टी फिर गया। उस मार्ग से जो भी निकलता, वही टट्टी जाने वाले को गाली देता। लेकिन गाली देने से गंदगी क्या साफ हो गई? गाली देने वालों को यह सोचना चाहिए कि यदि हम टट्टी नहीं साफ कर सकते

तो कम से क्रम इस पर राख तो डाल दें। मगर राख डालने में आलस्य आता है और गाली देने में मजा आता है। लोग यह नहीं समझते कि गंदगी फैलाने वाले ने अगर मूर्खता की तो गालियाँ देकर हम भी क्यों मूर्ख बनें।

यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि टट्टी जाने वाला बड़ा है या टट्टी उठाने वाला बड़ा है ? आप से आलस्य के मारे घर से बाहर टट्टी जाने के लिए न निकला जावे और जो वह टट्टी साफ करे उसे आप नीच, हीन और घृणित समझो, क्या यह उचित है ? बच्चा घर में टट्टी जाता है और माँ उठाती है; तो क्या माँ नीच है ? किसी बुराई को मिटाना तो अच्छा है, मगर बुराई के पीछे और बुराई बढ़ाना बुरा है।

(१६) सोलहवाँ पाप रति-अरति है। अच्छे काम से नफरत करके बुरे काम में लगना रति-अरति है। पानी का स्वभाव नीचे की ओर जाता है, इसी प्रकार प्राणियों को अच्छे काम में लग कर उन्नत होना तो कठिन जान पड़ता है और नीच काम की ओर जाना जीव की आदत हो रही है। इस प्रकार अच्छे कामों से मन हटा कर बुरे कामों में लगना रति-अरति है।

(१७) सतरहवाँ पाप मायामृषा है। कपट सहित झूठ को मायामृषा कहते हैं। आज की वकालत जैसे माया सहित झूठ बोलने का ही नाम है। ऊपर से जान पड़े कि सत्य है, पर भीतर

से भूठ भरा हो तो समझना चाहिए कि यह माया-मृषा है ऐसा करने वाला, लोगों को चाहे धोखा दे सके पर ईश्वर को धोखा नहीं दिया जा सकता। ईश्वर कहता है—मैं जनता हूँ कि यह भूठ है। तुमने भूठ बोल कर अपने आत्मा को डुबोया है।

(१८) अठारहवाँ पाप मिथ्यादर्शनशल्य है। यह पाप सब पापों का राजा है। किसी में साधु के गुण तो नहीं हैं, फिर भी उसे साधु मानना, कुदेव को देव मानना और कुधर्म को धर्म मानना, यह मिथ्यादर्शनशल्य है।

कई लोग पक्ष में पड़कर, दुराग्रह के वशीभूत होकर असाधु को साधु मानने लगते हैं और साधु को असाधु समझने लगते हैं। कई साधु का भेष धारण करते हैं पर असाधु का काम करते हैं। बहुत-से लोग भेष को ही प्रिय एवं मान्य समझ कर या साधारण गृहस्थ की अपेक्षा उन्हें अच्छा जानकर मानते-पूजते हैं। लेकिन मात्र वेष किस काम का नहीं है। अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को फटकारते हुए कहा था—

> कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं संजयवुहइत्ता ॥
>
> असंजए संजय मन्नमाणे-विणिग्घायमा गच्छई सेचिरंपि ॥१॥

सरकारी चपरास पहन कर चोरी करने वाले को जैसे अधिक दंड मिलता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर की चपरास

पहन कर पाप अर्थात् असाधुता के काम करने वाला साधारण अपराधी की अपेक्षा अधिक अपराधी है। यह मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि ऋषीश्वरों की ध्वजा है। पाप का नाश किये विना, केवल रोटी के लिए इस ध्वजा को धारण करने वाले को धिक्कार है! जो लोग हट्टे-कट्टे हैं, कमा कर खा सकते हैं, फिर भी केवल आजीविका के हेतु साधु का वेष धारण किये हुए हैं और भीख माँगते-फिरते हैं, वे धिक्कार के पात्र हैं। कोई अन्धा हो, लूला हो, लँगड़ा हो तो दूसरी बात है, उसकी बात कुछ समझ में आ भी सकती है, लेकिन जो हट्टा-कट्टा है, साधुपन का पालन नहीं कर सकता, फिर भी भीख माँग कर खाता है उसे कौन धिक्कार के योग्य नहीं समझेगा?

अब रही यह बात कि, चलो भाई, इन्हों ने साधुपन लिया है। एक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण ठीक होगा। मान लीजिए एक वेश्या है, जो लोगों के सामने आँख मटकाती है और हावभाव दिखलाती है। वेश्या के इस कर्म से किसी को आश्चर्य नहीं होगा, क्योंकि उसने यह पेशा अख्तियार कर रक्खा है। लेकिन एक स्त्री, जिसकी गणना पतिव्रताओं में की जाती है, वेश्या की भाँति हावभाव और कटाक्ष करने लगे तो क्या उस पतिव्रता को इसी कारण अच्छी समझोगे कि वह वेश्या से अच्छी है? वेश्या अपना नाम वेश्याओं की सूची में लिखा

चुकी है, लेकिन वह अपने आपको पतिव्रता प्रकट करती है। अपने को पतिव्रता प्रकट करके जो वेश्या का ही व्यवहार करती है, वह जगत् को छलती है, संसार को डुबाती है। यही एक कथा के आधार पर बतलाता हूँ। यह कथा जैन साहित्य में नहीं है, दूसरी जगह कहीं पढ़ी है:—

एक बार द्रौपदी नदी में स्नान करने गई थीं। द्रौपदी की गणना पतिव्रता स्त्रियों में है। जैन साहित्य और महाभारत-दोनों में ही उसे पतिव्रता माना है। दुर्योधन उसे नग्न करना चाहता था, लेकिन द्रौपदी के सत्य के प्रभाव से वस्त्र का ढेर लग गया था। वह नग्न नहीं हुई। उस का पतिव्रत संसार में प्रसिद्ध था।

द्रौपदी स्नान करने गई थी कि इतने में ही कर्ण उस ओर से निकले। कर्ण भी तेजस्वी और वीर थे। वह छठे पाण्डव के समान था और दूसरे अर्जुन ही जान पड़ता था। कर्ण वीर का बाना धारण किये, कुलीन और शीलवान पुरुष की तरह उधर निकले। उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि कौन यहाँ स्नान कर रहा है? वह यों सहज ही उस ओर से निकल रहे थे। कुलीन पुरुष के सामने अगर कोई स्त्री आ जाती है, चाहे वह किसी भी अवस्था में हो, तो वह अपनी दृष्टि नीची कर लेते हैं।

द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देख कर उसकी भावना बदल गई। वह सोचने लगी—यह कैसे धीर-वीर पुरुष हैं! केवल अर्जुन ही इनके समान हैं। यदि यह भी कुन्ती के पेट से जन्मे होते तो छठा पति करने में भी मैं संकोच न करती। द्रौपदी के मन में ऐसा विचार आया।

द्रौपदी का यह विचार योगविद्या द्वारा कृष्ण ने जान लिया। कृष्ण ने सोचा-द्रौपदी सती कहलाती है। उसके मन में यह पाप आया, यह तो गजब हुआ! उसका यह पाप दूर करना चाहिए। ऐसा न किया तो संसार डूब जायगा। इस प्रकार विचार करके कृष्ण बिना बुलाये ही पाण्डवों के यहां पहुँचे। कृष्ण को देख कर पाण्डवों की प्रसन्नता का पार न रहा। कृष्ण का खूब स्वागत किया-सत्कार किया गया। पाण्डव उन्हें महल में ले जाने लगे। कृष्ण ने कहा—आज मैं महल में जाने के लिए नहीं आया हूँ। मेरी इच्छा यह है कि तुम पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी के साथ वन-क्रीड़ा के लिए चला जाय। वहीं भोजन आदि करें। भला कृष्ण की बात कौन टालता। पाण्डव और द्रौपदी, कृष्ण के साथ वन को रवाना हुए।

कृष्ण सब को साथ लिए किसी ऋषि के आश्रम के वन में गये। वह वन खूब फला-फूला था। जब सब लोग वन में

घुसने लगे तो कृष्ण ने कहा—देखो, यह तपोवन है। इस में कोई फल मत तोड़ना। सब ने कृष्ण की बात स्वीकार की।

सब लोग वन के भीतर चले। भीम शरीर से कुछ भारी थे। सब लोग आगे चले गये और वह कुछ पीछे रह गये। जाते-जाते जामुन का एक पेड़ आया। उसमें पूरे पके हुए बड़े-बड़े जामुन लगे थे। वह फल देख कर भीम अपनी लालसा न रोक सके। भीम ने सोचा—'हम राजा हैं। पृथ्वी पर हमारा अधिकार है। एक फल तोड़ कर खा लें तो क्या हर्ज है? अभी कोई देखता भी नहीं है।' इस प्रकार विचार करके भीम ने एक जामुन तोड़ लिया। भीम ने फल तोड़ा ही था, अभी मुँह में रख भी नहीं पाये थे कि कृष्ण भीम की ओर लौट कर इस तरह देखने लगे, मानो साक्षी ही खड़े हैं। कृष्ण ने तब भीम से कहा—'भीम, तुमने यह क्या किया!'

भीम बहुत लज्जित हुए। लज्जा के मारे वह काँपने लगे। कृष्ण ने कहा—माना कि तुम राजा हो, तब भी तुम्हें मेरी आज्ञा का ध्यान रखना चाहिए था।

भीम बड़े शर्मिन्दा हुए। अन्त में उनसे यही कहते बना—मुझ से अपराध बन गया। क्षमा कीजिए।

कृष्ण बोले—क्षमा करने से काम नहीं चलेगा। तप की शक्ति लगा कर इस फल को जहाँ का तहाँ लगाओ।

कृष्ण की यह अद्भुत आज्ञा सुन कर भीम संकट में पड़ गये। तब कृष्ण ने कहा—क्या धर्म में यह शक्ति नहीं है? या धर्म की शक्ति पर तुम्हें विश्वास नहीं है?

भीम से यह कहकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—धर्मराज, तुम भीम द्वारा उपार्जित द्रव्य का उपभोग करते हो, तो इनके पाप में भी भाग लो और प्रायश्चित्त करो।

युधिष्ठिर अजात शत्रु थे। उन्हों ने कहा—वास्तव में भीम ने जो गलती की है, उसे मैं भी गलती मानता हूँ। इसे मिटाने के लिए आप जो कहें, वही करने के लिए मैं तैयार हूँ। बस आज्ञा दीजिए।

कृष्ण ने कहा—तुम यह कहो कि—'अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊँ तो, हे फल, तू जहाँ का तहाँ जाकर लग जा।'

कृष्ण की बात मान कर युधिष्ठिर ने कहा—'हे फल, अगर मैं कभी झूठ न बोला होहूँ तो जहाँ का तहाँ लग जा।

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर फल वृक्ष की ओर चढ़ने लगा। उसे बीच में ही रोक कर कृष्ण ने कहा—बस, धर्मराज! तुम्हारी परीक्षा हो गई। अब भीम आओ, परीक्षा दो।

भीम रोने जैसे होकर कहने लगे-मैं ने तो इसे तोड़ा ही है। मैं क्या परीक्षा दूँ! मेरे कहने पर यह कब चढ़ने लगा! तब

कृष्ण ने कहा—यह पाप तो प्रत्यक्ष ही है। इस पाप के सिवाय और कोई पाप न किया हो तो फल को आज्ञा दो। तब भीम ने कहा—'हे फल, इस पाप के सिवाय मैं ने अन्य पाप न किया हो तो तू ऊपर चढ़!' फल ऊपर चढ़ने लगा। तब कृष्ण ने उसे रोक दिया।

कृष्ण ने इसी प्रकार अर्जुन, नकुल और सहदेव की भी परीक्षा ली। जब पाँचों भाइयों की परीक्षा हो चुकी, तब कृष्ण ने द्रौपदी से कहा—'भाभी, अब तुम आओ।'

द्रौपदी सिटपिटाई। उसने सोचा—मुझ में कर्ण को पति रूप में चाहने का पाप है, न जाने इस परीक्षा का परिणाम क्य होगा? फिर उसने विचार किया—उस पाप को कौन जानता है। उसने भी सब के समान उस फल से कहा—अगर मैं ने पाण्डवों के अतिरिक्त, मन से भी किसी को पति रूप में न चाहा हो तो तू गति करके डाली में लग जा।

द्रौपदी के इतना कहते ही फल पृथ्वी पर आ गिरा। कृष्ण, भाभी से कहने लगे—वाह! भाभी, वाह! तुमने यह क्या किया? तुम्हारी जैसी पतिव्रता में यह पाप कैसे? तुमने तो और पति की कमाई भी खो दी।

द्रौपदी लज्जा के मारे काँप उठी। वह सोचने लगी—पृथ्वी फट जा और मैं तुझ में समा जाऊँ! वह रोने लगी।

कृष्ण ने कहा–रोने से कुछ न होगा। जो पाप हो, उसे प्रकट करो। द्रौपदी रोती हुई कहने लगी–मैं ने और कभी कोई पाप नहीं किया। लेकिन एक दिन मैं नहाने गई थी। संयोगवश कर्ण उधर आ गये। उन्हें देख कर मुझे विचार आया–अगर यह छठे पाण्डव होते तो इन्हें भी मैं अपना पति बना लेती।

इस प्रकार द्रौपदी ने बालक के समान सरल भावसे अपना पाप प्रकट कर दिया। तब कृष्ण ने कहा–अब घबराने की आवश्यकता नहीं है। सच्चे हृदय से आलोचना कर लेने पर फिर पाप नहीं रह जाता। जिस मन से पाप होता है, उस मनसें वह पाप कट भी जाता है। इस लिए अब चिन्ता न करके फल को आज्ञा दो।

द्रौपदी ने अप्रतिम स्वर में कहा-अब क्या आज्ञा दूँ ? मेरा धर्म तो चला गया। कृष्ण बोले–धर्म सदाके लिए रुठ नहीं जाता है, वरन् गया धर्म वापस भी आ जाता है। इसलिए तुम फल को आज्ञा दो। द्रौपदी ने फल को आज्ञा देते हुए कहा–इस पाप के सिवा मैंने अन्य कोई पाप न किया हो तो, हे फल ! तू चढ़ और डाल में लग जा। द्रौपदी के यह कहने पर फल डाली में लग गया।

कृष्ण ने कहा–बस, मेरा प्रयोजन पूरा हुआ। मैं इसी पाप को निकालने आया था। अगर यह पाप रहता तो गजब हो

जाता । द्रौपदी पतिव्रता कहलाती है । पतिव्रता में इतना भी पा
रहना ठीक नहीं है ।

सारांश यह है कि साधु द्वारा किये जाने वाले और गृहस्
द्वारा किये जाने वाले पाप में बहुत अन्तर है । गृहस्थ तो पैस
रखते ही हैं, पर साधु पैसा रखने लगें तो कैसा अपराध होगा
गृस्थावस्था त्यागी, साधुवेष ग्रहण किया फिर भी पाप
छोड़ा । यह गृहस्थ के पाप की अपेक्षा बहुत बुरा है । कहा है:—

भेख लियो जग देखन को पर भेख की टेक सक्यो नहीं पाली
कोइक राखत करड़ा-केरड़ी, कोई चरावत गाय अरु छाली
जान वरात में संग जो जावे, भात सगन में खात हैं गाली
कहे गुरु ज्ञानी सुनो भाई साधो, वे बाबा का बावा ने हाली के हाली

भला यह भी कोई साधुपन है ! साधुता न पले, फिर भ
साधु कहलाना साधुत्व की पवित्रता को कलंकित करना है । तिर
पर यह समझना कि--भेप प्यारा लगता है या साधुपन लेन
के कारण हमसे तो अच्छे ही हैं, यह और भी बड़ी खराबी है

द्रौपदी ने जरा-सा ही पाप किया था, पर कृष्ण ने इस
को बहुत बड़ा माना । इसी तरह साधु हो करके भी जो पाप कर
और पाप का प्रायश्चित्त लेने के बदले उसे दबाने का प्रयत्न करे
तो वह असह्य होना चाहिए । अन्यथा गजब हो जायगा और
धर्म मलीन हो जायगा ।

किसी साधु से अगर साधुता का पालन नहीं होता और वह उसे छोड़ दे तो हम किसी के पास फरियाद करने नहीं जाते। बल्कि हम उसे पहुँचाने चले जाएँगे कहेंगे—तुम से साधुव्रत पालन नहीं होता, यह वात तुमने स्पष्ट कह दी, सो अच्छा किया। जब साधुपन न पले तब भेष रहने देना ठीक नहीं है।

यह तो साधुओं की बात हुई। मगर श्रावक कहला कर पाप छिपाने वाले को क्या कहा जाय? ऐसे श्रावकों को भी उलहना दिया गया है:—

फोकट श्रावक नाम धरावे, के दिल में जरा शरम नहीं आवे।
होलिय़ाँ खेले ने गालियां गावे, काला मुख वे करावे।
परनारी ने फिरे ताकता, जाने जरा शरम नहीं आवे॥

श्रावकपन भी कोई साधारण बात नहीं है। श्रावक भी ईश्वर का भक्त है। उसके लिए गृहस्थी के कार्य तो क्षम्य हैं, पर घर-नारी को छोड़ पर-नारी को ताकते फिरने वाला क्या श्रावक है? ऐसे लोगों के कारण ही दूसरे हम से कहते हैं—महाराज, आप के श्रावकों में दया नहीं है। जब हम पूछते हैं—'क्यों भाई, दया नहीं है, यह कैसे जाना? तब उत्तर मिलता है—'अमुक श्रावक ने अपने कलम से मेरी गर्दन काट डाली।' ऐसे समय में हमें कितनी लज्जा का अनुभव होता है।

हमारे लिए तो प्रेम के साथ शास्त्र सुनने वाले सभी श्रावक हैं। जो प्रेम से शास्त्र सुने वही श्रावक कहलाता है। आप लोग ऊपर उठो, कल्याण के पथ पर आओ, पाप का तिरस्कार करो, अगर भूतकाल में अपराध किया हो तो उसे द्रौपदी की भाँति धो डालो और भविष्य में पाप से दूर रहने का संकल्प कर लो, तो हमें लज्जित न होना पड़ेगा। किसी आदमी को झूठा कहा जाय तो उसे दुःख होता है; मगर झूठ बोलने में वह दुःख का अनुभव नहीं करता, यह कितने आश्चर्य की बात है। इसी का नाम मिथ्यात्व है।

मिथ्यादर्शनशल्य अठारहवाँ पाप है। असाधु को साधु और साधु को असाधु समझना, मिथ्या देव और धर्म को मानना, यह सब मिथ्यात्व है। लोग मिथ्यात्व के कारण ईश्वर को भी बुराई में गूंथते हैं। पाप तो आप करते हैं, मगर नाम ईश्वर का रखते हैं और ईश्वर के नाम पर बुरे काम करते हैं। यह तो वैसी ही बात हुई कि महाराष्ट्र के ब्राह्मणों को कांदा तो खाना है, मगर कांदा नाम न रखकर उसे 'कृष्णावल' नाम देते हैं। कांदे में कृष्णावलपन क्या है, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं, मगर किसी पाप के साथ किसी महापुरुष का नाम जोड़ देने से उस पाप की गुरुता कम हो जाती है, ऐसी लोगों की धारणा है। भंग पीने वाले कहते हैं--इसका पान शिवजी ने

किया था। यह शिवजी की बूटी है। इस प्रकार सत्य को न समझने वाले लोगों ने ही ईश्वर को बदनाम करने का प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार अधर्म को धर्म समझना भी मिथ्यात्व है। जैसे इन्द्रियों के भोगोपभोग को धर्म समझना और त्याग आदि को अधर्म समझना। मिथ्यात्व का यह पाप सब पापों का राजा है। इन पापों से आत्मा भारी होकर संसार के पेंदे में चला जाता है अर्थात् नरक-निगोद में पड़ता है।

आत्मा के भारी होने के कारण पूछने के पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! अगर इन पापों से आत्मा भारी होता है, तो हल्का कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—आत्मा इन पापों को जैसे-जैसे त्यागेगा, वैसे ही—उसी परिमाण में हल्का होता जायगा।

भगवान् ने मोक्ष का यह सरल मार्ग बतलाया है। शास्त्र में आत्मा के कल्याण की सब बातें भरी हैं। वह लोग धन्य हैं जो इन शास्त्रों में रमण करते हैं। शास्त्रों में बहुत शक्ति है।

इन प्रश्नोत्तरों में भारी का अर्थ सिर्फ कर्म वाला ही नहीं, किन्तु अशुभ कर्म वाला समझना चाहिए, क्योंकि अशुभ कर्मों से ही जीव अधोगति में जाता है।

पहले भगवान् ने जीव के भारी होने का कारण बतलाया, मगर ऐसा बतलाने के साथ ही यदि उसे मिटाने की दवा न बताई जाय तो रोग बतलाना वृथा है। उससे कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार भगवान् ने जीव का रोग तो बतलाया कि जीव अठारह पापों से भारी होता है किन्तु उसके साथ ही दवा भी बतलाना आवश्यक समझा। इसी प्रयोजन से दूसरा प्रश्न किया गया है। इसके सम्बन्ध में भगवान् ने कहा—गौतम, जीव में हलका होने की शक्ति है और हलका होना ही उसका अपना असली स्वभाव है। मगर वह हलका तभी हो सकता है, जब पूर्वोक्त अठारह पापों से निवृत्त हो जाय।

पहला पाप प्राणातिपात बतलाया जा चुका है। किसी प्राणी के प्राणों का हरण करना प्राणातिपात है। मन, शरीर, श्वास आदि सभी प्राण हैं। प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। अतः किसी भी प्राणी के प्रिय प्राणों का नाश करना पहला प्राणातिपात पाप है। इस पाप से निवृत्त होना प्राणातिपात-विरमण कहलाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जीव तो जीव की ही सहायता से जीता है। फिर प्राणातिपात से निवृत्त होना किस प्रकार संभव है ? साथ ही कई लोगों की धारणा ऐसी है कि :—

जीवो जीवस्य जीवनम्।

अर्थात्-जीव, जीव से ही जीता है। जीव, जीव का ही भोजन करता है। ऐसी अवस्था में प्राणातिपात का त्याग करना अपना प्राणातिपात करना है अर्थात् अपने प्राणों का त्याग करना है।

लेकिन 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का अगर यही अर्थ किया जाय कि बड़े जीव, छोटे जीवों को मार खावें, शक्तिमान् अशक्त को हजम कर जाय तो फिर क्या हम किसी से छोटे या अल्पशक्ति नहीं हैं? अगर हाथी या सिंह इसी सिद्धान्त की दुहाई देकर हमें खा जाना चाहे तो क्या हम उसे ऐसा करने की आज्ञा दे देंगे? क्या उस समय भी आप इस सिद्धान्त को सही मानेंगे? अगर नहीं, तो दूसरों के लिए इसे ठीक समझना और जब आप पर आ पड़े तो उसे गलत कहना क्या पक्षपात और स्वार्थ नहीं है?

'जीवो जीवस्य जीवनम्' का वास्तविक अर्थ यह है कि जीव, जीव की सहायता से ही जीता है। जीवहिंसा पर जीव का जीवन कायम नहीं है, किन्तु एक के प्रति दूसरे जीव की सहायता ही जीवन कायम रखती है। इसी लिए तो 'जीवो जीवस्य जीवनम्' कहा है, अन्यथा 'जीवो जीवस्य मृत्यु' कहा गया होता। अगर जीव जीव की हिंसा किये बिना कोई जीव जीवित नहीं रह सकता होता तो ज्ञानी हिंसा के त्याग का उपदेश ही क्यों देते? मगर ज्ञानियों ने प्राणातिपात का विरमण व्रत-

लाया है, इसका अर्थ यही है कि–'हे जीव ! तू जीवहिंसा के बिना भी जीवित रह सकता है।' यों संसार में सदा से हिंसा रही है और हिंसा रही है, इसी कारण अहिंसा के उपदेश की आवश्यकता भी हुई। मगर जब हिंसा के बिना भी जीवन रह सकता है तो हिंसा का घोर पाप करके आत्मा को भारी करने का क्या प्रयोजन है ? क्यों अपने हाथों पैर पर कुठाराघात किया जाय ?

यों देखा जाय तो शरीर अपराधों का घर है। शरीर के द्वारा उठते-बैठते, खाते-पीते हिंसा होती ही है, फिर भी शरीर से हिंसा की भांति अहिंसा की भी साधना हो सकती है। हाथ में थप्पड़ मारने की शक्ति है तो दूसरे की रक्षा करने की भी शक्ति है ही। शक्ति, शक्ति ही है, विशेषता उसके उपयोग में होती है। शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना और किस प्रकार के उपयोग से आत्मा का कल्याण हो सकता है, यही बताने के लिए उपदेश दिया जाता है। अगर हाथ में थप्पड़ मारने का ही धर्म होता और रक्षा करने का धर्म न होता तो रक्षा करने का उपदेश ही न दिया जाता। यही बात सम्पूर्ण शरीर के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। शरीर में दोनों ही धर्म मौजूद हैं। इसी कारण प्राणातिपात विरमण का उपदेश दिया जाता है। शिकारी शिकार के लिए जीव देखने के लिए अपनी आँखों का उपयोग

करता है और दयावान् अपनी आँखों का उपयोग जीव बचाने में करता है। जिस मन से हिंसा होती है, उसी से अहिंसा भी हो सकती है। इस प्रकार सारे शरीर में दोनों ही धर्म विद्यमान है इसी लिए ज्ञानी कहते हैं—जीव, हिंसा करके भारी क्यों होता है? हिंसा का त्याग करके हल्का क्यों नहीं होता।

हिंसा से निवृत्त होने का क्रम शास्त्रकारों ने बतलाया है। अतएव इस प्रकार का आग्रह करने की आवश्यकता नहीं है कि अगर हिंसा छूटे तो पूरी ही छूटे। अगर अधूरी हिंसा छूटी तो न छूटने के ही समान है। फिर उसे छोड़ने का प्रयोजन ही क्या है? ऐसा आग्रह करना इसी तरह की बात है, जैसे कोई लड़का कहे कि पढ़ना तो अच्छा है, मगर मैं पढ़ूँगा तब, जब अध्यापक मुझे एक दम एम. ए. की पढ़ाई पढ़ावे। वर्णमाला भी न जानने वाला लड़का ऐसा आग्रह करके अगर स्कूल न जाए तो क्या परिणाम होगा? वह सदा के लिए मूर्ख रह जाएगा। इसी प्रकार जो यह आग्रह करता है कि—पालूँगा तो सम्पूर्ण अहिंसा पालूँगा, अगर सम्पूर्ण न पालूँगा तो तनिक भी नहीं पालूँगा तो समझना चाहिए कि उसका यह कथन अहिंसा से बचने का बहाना मात्र है। लड़का पढ़ाई आरम्भ करके धीरे-धीरे क्रम से ऊँची पढ़ाई भी कर सकता है, मगर ऊँची पढ़ाई का बहाना करके यदि स्कूल ही न जावे तो मूर्ख रहेगा। इसी

प्रकार अगर आप पूर्ण अहिंसा का बहाना करके तनिक भी अहिंसा न पालें तो आप का आत्मा भारी होगा।

आप ज्ञान की पाठशाला में आये है। आपको देखना चाहिए कि हमारे शरीर में दोनों धर्म मौजूद हैं। अगर हम धीरे-धीरे अहिंसा का पालन करते जाएँगे तो एक दिन पूर्ण अहिंसक भी बन जाएँगे। सम्पूर्ण हिंसा चौदहवें गुणस्थान में ही छूटती है। अब अगर कोई आदमी धीरे-धीरे न चढ़ते हुए, बीच की सीढ़ियाँ छोड़ कर एकदम ऊपर चढ़ना चाहे तो वह नीचे ही रह जायगा, कभी ऊपर नहीं चढ़ सकेगा। इस लिए आपसे अगर पूर्ण हिंसा इस समय नहीं छूट सकती तो कम से कम निरपराधी को मारने की हिंसा तो त्यागनी चाहिए। और जब अपराधी की हिंसा करना अनिवार्य हो जाय तो उसे हिंसा समझते हुए यह भावना अवश्य रक्खो कि किसी दिन मुझे यह हिंसा भी छोड़नी ही ह। इस प्रकार की भावना रखने से कभी वह दिन भी होगा जब आप सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी होकर अयोगी केवली हो सकेंगे और आप का आत्मा सिद्ध बन सकेगा।

दूसरा पाप असत्य है। मन में असत्य विचार आना भी पाप है। पूर्ण सत्य का पालन करने के लिए मन में असत्य विचार भी नहीं आने देना चाहिए। आपको यह कठिन जान पड़ेगा कि मन में कभी असत्य विचार न आवे, लेकिन आज

आप न कर सकें तो कम से कम व्यवहारिक सत्य का ही पालन करो। यद्यपि सम्पूर्ण सत्य इतना कठिन नहीं है, जितना आप मान रहे हैं, मगर अभ्यास न होने के कारण ही आप को ऐसा जान पड़ता है। लेकिन ज्ञानी पुरुष आपसे यह नहीं कहते कि, आप पालो तो सम्पूर्ण सत्य ही पालो, अन्यथा लेशमात्र भी न पालो। उनका कथन यह है कि आप कम से कम व्यवहारिक सत्य का पालन करो। व्यवहारिक सत्य का पालन करते-करते कभी वह दिन भी आयगा जब आप सम्पूर्ण सत्य के अधिकारी बन जाएँगे। आप ग्रहस्थ हैं। गृहस्थ होते हुए भी आप पांच तरह का असत्य तो त्याग ही सकते हैं। अगर आप ने कन्नाली, गोत्राली, भोमाली थापणमोस और कुड़ीसाख इन पांच तरह के झूठों का त्याग कर दिया तब भी आप श्रावक हैं और आत्मा को हल्का बनाने वालों में आपकी गिनती होगी।

कन्नाली का अर्थ है—कन्या के निमित्त झूठ बोलना। इस के त्याग का अर्थ यह नहीं है कि सिर्फ कन्या के लिए ही झूठ न बोला जाय। अन्य मनुष्यों के विषय में झूठ बोलने की परवानगी है। यहाँ कन्या को आगे रखकर (उप लक्षण से) मनुष्य मात्र के विषय में झूठ बोलने का निषेध किया गया है। अगर मनुष्य को हानि पहुँचाने, उसको धोखा देने या उसके साथ विश्वासघात करने के लिए कोई आदमी झूठ न बोले तो

क्या उसका कोई काम रुक जायगा ? लोगों से झूठ नहीं छूटता है, इस कारण पारस्परिक अविश्वास बढ़ता जा रहा है और पति-पत्नी का चाबी-ताला भी अलग-अलग रहता है। अगर आप झूठ छोड़ देंगे तो दूसरा भी आप के लिए झूठ छोड़ देगा। लेकिन जब आप दूसरे के लिए झूठ नहीं त्यागेंगे, तब दूसरा आप के लिए क्यों त्यागेगा ?

आप सोचते होंगे-'क्या मेरे असत्य के त्यागने से संसार असत्य का त्याग कर देगा ? मगर आप दुनिया की चिन्ता क्यों करते हैं ? आप पढ़े हैं या आप का विवाह हुआ है तो क्या संसार के सब लोग शिक्षित या विवाहित हो गये ? अगर नहीं, तो फिर आपने पढ़ाई क्यों की ? शिक्षा प्राप्त क्यों की ? पढ़ते समय या विवाह करते समय तो संसार का विचार नहीं आया, मगर असत्य का त्याग करते समय यह विचार कहाँ से फूट पड़ा ? अन्यान्य कार्यों के समय ऐसा नहीं सोचना और धर्मकार्य के समय ऐसा सोचना क्या घोर दुर्बलता नहीं है ! दूसरे लोग सत्य का आचरण करें, आप सत्य-आचरण करेंगे तो फिर आप के सामने असत्य आएगा ही नहीं। अगर कोई आप के प्रति असत्य का आचरण करेगा भी तो आप पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

दूसरा झूठ 'गोवाली' है। इसका अर्थ है-गाय के सम्बन्ध

में झूठ बोलना। इसका अर्थ यह न समझा जाय कि सिर्फ गाय के लिए ही झूठ बोलने का निषेध है, अन्य पशुओं के सम्बन्ध में झूठ बोलने का निषेध नहीं है। यहाँ गाय को आगे रख कर पशु-मात्र के विषय में असत्य बोलने का निषेध किया गया है। आप पर कोई मनुष्य विश्वास करता है तो आप अच्छे पशु को बुरा और बुरे को अच्छा न बतलावें। इसी प्रकार पशु हो किसी और का तथा बता देना किसी अन्य का, यह भी इसी असत्य में गर्भित है। इसका भी त्याग करना चाहिए। किसी भी मनुष्य या पशु का अहित करने के लिए झूठ नहीं बोलना चाहिए।

तीसरा असत्य 'भोमालीए' है। इसके त्याग का अर्थ है—भूमि या भूमि पर उत्पन्न होने वाली किसी वस्तु के सम्बन्ध में झूठ न बोलना। इन तीन प्रकार के असत्यों का त्याग करने से स्थूल रूप में सभी चीजों सम्बन्धी झूठ का त्याग हो जाता है। इन में से किसी भी प्रकार के असत्य का आचरण मत करो। अगर असत्य का आचरण किया तो वह लौट कर आप के ही सामने आएगा।

चौथा झूठ 'थापणमोस' है। किसी की धरोहर को हजम कर जाना 'थापणमोस' है। यह कितना बड़ा अपराध है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसका त्याग किये बिना कोई श्रावक नहीं कहला सकता। यह एक घोर कृत्य है।

अगर आप असत्य न बोलें तो आप का कोई काम नहीं रुकता। मैं एक वार वाहर गया था। वहाँ मैं ने दो किसानों की वात चीत सुनी। जान पड़ता था, उनमें से एक किसान का खेत सम्बन्धी कोई झगड़ा था। उसके लिए से एक किसान कह रहा था– 'वह कहता था कि तू उस व्यक्ति के विरुद्ध यह गवाही दे देना कि उसने मेरा खेत आधी रात के समय हल से जोता है।' तव दूसरे किसान ने कहा–'चाहे कुछ भी हो, मैं भूठ नहीं बोलूँगा। मैं ने उसे खेत जोतते नहीं देखा तो भूठी गवाही कैसे दे दूँ? तुम उससे साफ कह देना कि मेरा नाम गवाह में न लिखावे, अन्यथा मैं स्पष्ट कह दूँगा कि मैं कुछ नहीं जानता। इसने भूठमूठ ही मेरा नाम लिखाया है।

जव भूठ न बोलने से उस किसान का भी काम नहीं रुकता, तव आप महाजन या बड़े आदमी कहलाकर भी भूठ बोलें तो कितने आश्चर्य की वात है। क्या भूठ न बोलने से आप का कोई काम रुक जायगा? शास्त्र में सत्य को भगवान् कहा है! ऐसी अवस्था में सत्य को धोखा देना है। इसलिए आप असत्य का त्याग करें। अगर आप से पूर्ण असत्य नहीं त्यागा जा कसता तो कम से कम श्रावक होने के कारण ऐसा स्थूल भूठ तो त्यागो, जिससे राजदंड पंचदंड मिलता है और जिस भूठ के कारण आदमी भुठा कहलाता है उस प्रकारके भूठ त्यागने से आप का कोई भी काम रुका नहीं रहेगा।

यह संसार सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। अगर संसार में सत्य न रहे तो संसार का अस्तित्व एक विपत्ति बन जाय। साधुओं ने साधुता अंगीकार की है, सो इसी लिए कि जीवन में लेशमात्र भी असत्य न रहे और सम्पूर्ण सत्य का प्रकाश हो। साधु ने पूर्ण सत्य के पालन की प्रतिज्ञा की है, इस लिए असत्य भाषण तो दूर रहा, साधु के हृदय में असत्य विचार भी नहीं आना चाहिए। अगर छद्मस्थ होने के कारण कभी बोलने में असावधानी हो जाय तो प्रतिक्रमण के समय, द्रौपदी की तरह सरलता से अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए। मुँहपत्ती और ओघा रखने से ही कोई साधु नहीं हो जाता, किन्तु सत्य का पालन करने वाला ही साधु है, और जो सत्य का पालन न करे वह साधु नहीं है।

यों तो संसार में खोटा भी सिक्का रहता है और सच्चा भी, मगर लेने वाला परीक्षा करके ही लेता है। इसी प्रकार संसार में सच्चे और झूठे–दोनों प्रकार के साधु होते हैं। इसी कारण साधु की परीक्षा भी बतलाई गई है। अगर सब साधु सच्चे ही सच्चे होते या झूठे ही झूठे होते तो परीक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

तीसरे पाप का त्याग अदत्तादानविरमण है। अदत्तादान का अर्थ चोरी है। सम्पूर्ण रूप से अदत्तादान का त्याग भले

ही उच्चतर अवस्था में हो सके, मगर स्थूल चोरी का त्याग तो सभी कर सकते हैं। गृहस्थ को कम से कम ऐसे अदत्तादान का त्याग तो करना ही चाहिए, जिसे सर्वसाधारण चोरी कहते हैं और जिसके करने पर राजदंड मिलता है। गृहस्थ स्थूल अदत्त न ले और साधु सूक्ष्म अदत्त–तिनका जैसी तुच्छ चीज भी बिना दिये-न ले।

चौथे पाप का त्याग ब्रह्मचर्य का पालन करने से होता है। ब्रह्मचर्य के विषय में कई लोग कहते हैं–अगर सारा संसार ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे तो थोड़े दिनों में संसार में मनुष्यों का नामनिशान ही न रहे। उन्हें यह विचारना चाहिए कि विवाह तो लगभग सभी करते हैं, फिर विवाह करने वाले परस्त्रीगमन तो नहीं करते? उन्हों ने परस्त्रीत्याग कर दिया है न? अगर विवाह करने पर इतना भी नहीं हुआ तो फिर यह चिन्ता क्यों होती है कि ब्रह्मचर्य पालने से संसार उठ जायगा? एक बार गांधीजी से भी यही प्रश्न किया गया था। उन्हों ने उत्तर दिया–'संसार न चले तो क्या हर्ज है? वास्तव में इस प्रकार की दलीलें ब्रह्मचर्य न पालने का बहाना मात्र हैं। गृहस्थो! अगर आप पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते तो परस्त्रीत्यागरूप स्थूल ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करो। स्थूल ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए परस्त्री का त्याग तो अनिवार्य है ही, साथ ही स्वस्त्री

के विषय में भी मर्यादा करनी पड़ती है।

आज लोगों का शरीर खोखला और थोथा हो रहा है। चेहरे पर ओज नहीं, तेज नहीं दिखाई देता। शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है। मानसिक निर्बलता भी बढ़ती जाती है। इस सबका मूल कारण ब्रह्मचर्य की कमी ही है। ब्रह्मचर्य का पालन करने पर बल, बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को तो देव भी नमस्कार करते हैं। शास्त्र में कहा है—

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति ते॥

—उत्तरा० अ० १६, गा० १६

इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य की महिमा अद्भुत है। पर स्थूल ब्रह्मचर्य पालने वाले अर्थात् परस्त्री त्याग करके स्वस्त्री में संतोष करने वाले को भी देव मानते हैं। परस्त्री के त्यागी को विष, अमृत बन जाता है, शूली, सिंहासन हो जाता है और अग्नि, शीतल बन जाती है।

वीर्य की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य का मूल्य वीर्य से ही होता है। जैसे पानी के बिना मोती का और तेज के अभाव में हीरे का मूल्य नहीं होता इसी प्रकार वीर्य के

बिना मनुष्य का कोई मूल्य नहीं है। ऐसे महामूल्यवान् वीर्य को लोग तीसों दिन नष्ट करते हैं और कभी-कभी तो कच्ची अवस्था में ही नष्ट कर डालते हैं। कड़ी मिहनत करने के कारण किसान तो विषय-वासना से बहुत कुछ बच भी जाते हैं, पर ऐयाशी में पड़े रहने वाले और जिन्हें खाना, पीना और पहनना ही काम है ऐसे निठल्ले लोग विषय-वासना के चंगुल में बुरी तरह फँस जाते हैं। ऐसे लोग ऊपर से भले ही भले दीखते हों, पर उनका तेज तो अधिक विषयभोग के कारण नष्ट हो ही जाता है। इसलिए वीर्य की रक्षा करना परमावश्यक है। जो स्त्री बुद्धिमती होगी वह अपने पति से यही कहेगी कि हम दोनों विवाह–सम्बन्ध में बंधे हैं सो पशु (चतुष्पद) बनने के लिए नहीं, वरन् चतुर्भुज होकर आत्मा को हल्का करने के लिए।

पाँचवाँ पाप परिग्रह है और उससे निवृत्त होना परिग्रह विरमण कहलाता है। परिग्रह का अर्थ संग्रहबुद्धि है। आज संसार में जो विषमता फैल रही है, उसका मुख्य कारण संग्रह-बुद्धि है। रशिया में संग्रह बुद्धि के कारण ही साम्यवाद फैला था, जो आज प्रकट और अप्रकट रूप से सर्वत्र फैल रहा है। यह विषमता तब फैलती है, जब एक आदमी इतना संग्रह कर लेता है कि संगृहित वस्तु उसके काम नहीं आती—पड़ी-पड़ी सड़ती है और उसका पड़ौसी उसके अभाव में मरता है। इस प्रकार

की परिस्थिति में साम्यवाद का प्रचार बढ़ना स्वाभाविक है। उसे कोई रोक नहीं सकता। इस संग्रहबुद्धि के कारण ही संसार में मारकाट मची हुई है। इसी लिए ज्ञानी कहते हैं कि संग्रह-बुद्धि त्यागो।

आप कहेंगे कि आनन्द-कामदेव आदि के पास करोड़ों मोहरों की सम्पत्ति थी। क्या उन्हें संग्रह का दोषी कहा जाता था? अगर इतनी सम्पत्ति रखने पर भी वह संग्रह-बुद्धि वाले नहीं थे, तो आजकल के लोग जिनके पास तुलना में कम ही सम्पत्ति है, कैसे संग्रहशील कहे जा सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आपने उनके चरित को ठीक तरह समझा नहीं है। इसी से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। उनके पास जो सम्पत्ति थी, वह उनके अधिकार में थी, किन्तु उसका उपयोग उसी प्रकार होता था, जैसे किसी सार्वजनिक संस्था के धन का उपयोग होता है। उदाहरणार्थ—खजाने का द्रव्य राजा ग्रहण कर सकता है, परन्तु उसका उपयोग प्रजा के हित में होता है। अतएव वह धन राजा का कहलाता हुआ भी असल में प्रजा का ही समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों के पास जो द्रव्य था, उसका उपयोग सभी के हित में होता था। आनन्द के जीवन चरित में आनन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह—

आलंबणं, चक्खू, आहारे, पमाणे, मेढी, पमाणभूए।

था। अर्थात् आनन्द श्रावक प्रजा का आलंबन था। जैसे अंधे को लकड़ी का सहारा होता है, उसी प्रकार प्रजा को आनन्द का सहारा था। वह प्रजा के लिए आँख के समान था अर्थात् सब का मार्ग प्रदर्शक था। साथ ही वह गरीबों के लिए रोटी था, प्रमाण था, मेढी (वह काष्ठ, जिनके सहारे दांय में बैल घूमते हैं) था, प्रमाणभूत था।

आनन्द के पास चालीस हजार गायें थीं। अगर दस गायों पर एक आदमी काम करने वाला माना जाय तो आनन्द की गायों से चार हजार आदमियों को रोटी मिलती थी। वह इतना त्यागी और सादा था कि अपने नाम से अंकित अंगूठी और कुंडल के अतिरिक्त शरीर पर और कोई गहना नहीं पहनता था। रुई के कपड़ों के सिवा अन्य सब कपड़ों का उसने त्याग किया था। इस प्रकार आनन्द के चरित से प्रकट होता है कि उसकी सम्पत्ति कुछ और ही प्रकार की थी। उसमें ऐसी संग्रह-परायणता नहीं थी कि कोई मरे तो भले ही मरे, मगर मैं अपनी चीज़ न दूँगा और इस प्रकार की भावना होना ही परिग्रह है। परिग्रह महापाप है। इस पाप का त्याग करने से आत्मा तत्काल हल्का होता है।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के विषय में भी समझना चाहिए। इन अठारह पापों से निवृत्त होने पर आत्मा

हल्का होता है। इन पापों का त्यागी ही हलुकर्मी (लघुकर्मी) कहलाता है। इन पापों को त्याग करने वाला जीव सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करता है और अक्षय सुख का धाम बन जाता है।

तूंवा स्वभाव से हल्का होता है। अगर उस पर मिट्टी का लेप कर दिया जाय और फिर घास लगाकर फिर मिट्टी का लेप किया जाय। इस प्रकार मिट्टी के कई पुट देकर उसे पानी में छोड़ दिया जाय तो वह भारी होकर डूब जायगा ! यद्यपि तूंबे का स्वभाव डूबने का नहीं है, किन्तु मिट्टी के संसर्ग से वह डूब जाता है। इसके बाद जब उसकी मिट्टी छूट जायगी तो उसे ऊपर आने में देर नहीं लगेगी, और न ऊपर आने के लिए किसी की सहायता की ही अपेक्षा रहेगी। इसी तरह आत्मा स्वभाव से हल्का है, पर अठारह पापों के लेप से भारी होकर डूबता है। जब आत्मा पर पाप का लेप नहीं रहता, तब वह आत्मा को ऊर्ध्वगामी होने में देरी नहीं लगती।

गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान् के उत्तर से यह स्पष्ट है कि आत्मा स्वभाव से भारी नहीं है। अगर स्वभाव से भारी होता तो गौतम स्वामी यह प्रश्न ही न करते और तब भगवान् उत्तर क्यों देते ? वास्तविक बात यह है कि जीव जिस समय पाप करता है, उसी समय वह भारी हो जाता है। उस

पाप का परिणाम चाहे कभी भी आवे लेकिन जीव में भारीपन तो उसी समय आ जाता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिये हैं, उन्हें आज के विज्ञान की दृष्टि से देखो तो वह और भी स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएँगे। कोई बात जब तक प्रत्यक्ष में स्पष्ट न हो जाय तब तक सब लोग उससे लाभ नहीं उठा सकते। मेरा प्रयत्न यही है कि सब लोग बात को समझ जाएँ। ऐसा करने में शास्त्र का पाठ अधिक न हो तो कोई हानि नहीं। जब तक बात पूरी तरह समझ में न आवे, उसके कहने से लाभ ही क्या है? मेरी बात सब की समझ में आ जाय, यह आवश्यक है। इसलिए इस बात पर प्रत्यक्ष से विश्वास करने के लिए जरा स्पष्टीकरण करता हूँ।

प्रत्यक्ष देखो कि जब आदमी अपने मन में किसी तरह के अन्याय, अधर्म आदि का बुरा विचार करता है, तब आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी उसका मस्तक भारी हो जाता है। विचार का भार सब भारों से अधिक है। मनुष्य विचारों से जितना भारी होता है, उतना भारी हमाल की तरह बोझ उठाने से भी नहीं होता। विचार का बोझ न सह सकने के कारण कई लोगों की मृत्यु तक हो जाती है। यह बात इतनी साफ है कि एक बालक भी समझ सकता है। इसी प्रकार अठारह पापों से भी आत्मा भारी होता है। क्रोध होने पर आत्मा

भारी हो जाता है। अभिमान, चिन्ता, शोक आदि का भाव आने पर आत्मा के ऊपर काफी भार आ पड़ता है। छोटा बालक चिन्ता का मारा रोने लगता है। इसके विरुद्ध आत्मा जब स्वस्थ, स्वच्छ और शान्त होता है--किसी को मारने दुख देने आदि की भावना नहीं होती, तब आत्मा में भारीपन भी नहीं होता। इसी लिए भगवान् कहते हैं--ऐ मनुष्य ! तू शिला का बोझ क्या देखता है ! आत्मा पर से पाप का बोझ हटा। जो आत्मा पाप के बोझ से बचा हुआ है, उस पर पहाड़ गिर पड़ने पर भी उसका कोई बिगाड़ नहीं हो सकता। अगर आपका आत्मा पाप से रहित होने के कारण हल्का है तो आपका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अतएव किसी दूसरे के लिए यह न देखो कि यह हमें हल्का बना देगा या भारी कर देगा। जीव अपने ही पाप से भारी होता है और पाप न रहने पर ही हल्का होता है। अतएव आत्मा को हल्का करने के लिए पाप का परित्याग करो।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं--भगवन् ! जीव संसार को किस प्रकार प्रचुर बनाता है ? कर्मों के द्वारा संसार प्रचुर कैसे होता है, यह समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि संसार क्या है ? संसार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

संसरणं संसारः ।

अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जन्मना और मरना तथा इस प्रकार अनेक योनियों में परिभ्रमण करना संसार कहलाता है। गौतम स्वामी पूछते हैं कि, भगवन् ! जीव संसार यानी जन्म-मरण कैसे बढ़ाता है ? जन्म-मरण की वृद्धि का क्या कारण है ?

भव्य जीवों ! क्या आप जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहना पसंद करते हैं ? अगर आपको जन्म-मरण पसंद होगा तो आपके लिए यह बात लाभ देने वाली न होगी । जिसका इरादा इस चक्कर से निकल जाने का है, वही इस व्याख्या से लाभ उठा सकता है; अन्य नहीं ।

कई लोग कहते हैं—जन्म-मरण के बिना कैसे ठीक-ठाक व्यवस्था रहेगी ? आजकल के लोगों की इच्छा भ्रमण करने की ज्यादा रहती है। इस कारण भ्रमण करने के साधन भी बढ़ गये हैं । प्राचीन काल में बैलगाड़ी या घोड़ा गाड़ी ही भ्रमण करने के साधन थे । लेकिन अब रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि होगये हैं । इस प्रकार संसार में भ्रमण करने की इच्छा रखने वालों के लिए यह प्रश्नोत्तर लाभदायक नहीं हो सकते । लेकिन जो भ्रमण का ही इरादा रखते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि आप जन्मना ही पसन्द करते हैं, मगर जन्म तो मृत्यु के पश्चात् ही होता है; तो क्या आप मरना भी पसन्द करते हैं ? जन्म और

मृत्यु साक्षी हैं। एक पैर रख जाने पर ही दूसरा पैर उठता है। इसी प्रकार पहले मृत्यु होने पर ही बाद में जन्म होता है और जन्म होने पर ही मृत्यु होती है। अगर कोई मरना नहीं चाहता तो स्पष्ट है कि वह जन्मना भी नहीं चाहता। जो जन्म लेना चाहेगा, वह मरना भी चाहेगा। मगर आत्मा स्वतः जन्म-मरण पसन्द नहीं करता। फिर भी आज उसकी जन्मने-मरने की आदत हो गई है। इसी कारण वह संसार-भ्रमण कर रहा है। अन्यथा आत्मा अमृत है। जन्म लेना और मृत्यु के चक्कर में पड़ना उसका धर्म नहीं है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा का असली स्वभाव अगर जन्म-मरण करने का नहीं है तो जन्म-मरण की वृद्धि क्यों होती है? इस का उत्तर यह है कि यह सब अपने हाथ की बात है, किसी दूसरे के हाथ की बात नहीं। कई लोग समझते हैं-हम क्या करें? जब जहाँ ईश्वर भेज देता है, तब वहाँ जाना पड़ता है। लेकिन यह बात गलत है। यह भ्रम मात्र है। आप करना और ईश्वर को दोष देना अज्ञान का परिणाम है। इस अज्ञान को मिटाने के लिए ही ज्ञानी कहते हैं कि यह बात और किसी के हाथ में नहीं है, किन्तु तेरे ही हाथ में है। अठारह पाप करने से ही जन्म-मरण होता है। जब कोई किसी को मारता है, तब वह समझता है कि मैं इसे मार रहा हूँ किन्तु

ज्ञानी कहते हैं कि तू उसे क्या मार रहा है, अपने आपको ही मार रहा है। तू इसे मारता है, इसी कारण तुझे बार-बार जन्मना-मरना पड़ता है। इसी प्रकार किसी दूसरे को धोखा देना अपने को ही धोखा देना है। किसी के सामने झूठ बोलना स्वयं विपदा में पड़ना है। इन सब कारणों से तुझे बार--बार जन्म-मरण की व्यथाएँ भोगनी होंगी। इसी प्रकार चोरी करके जो दूसरे की इष्ट वस्तु का अपहरण करता है, उसकी प्यारी चीज का भी अपहरण होगा और उसे बार-बार जन्मना-मरना होगा। जीव की इन्हीं हरकतों से उसे भवभ्रमण करना पड़ता है। इसमें दूसरे के हाथ की कोई बात नहीं है। एक आचार्य ने कहा—

स्वयं कृतं कर्म सदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

अर्थात् इस आत्मा ने पहले जैसे कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल इस समय (उदयकाल में) भोगना पड़ता है। अगर दूसरे के लिए फल का भोगना माना जाय तो अपने किये कर्म निरर्थक हो जाएँगे।

इन्हीं आचार्य ने फिर कहा—'परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्' इसमें दूसरा कोई सुख-दुःख देता है, ऐसी बुद्धि को त्याग दो।

कोई किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकता । अपने शुभाशुभ के लिए दूसरे को उत्तरदायी मानने से कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसा करने से जन्म-मरण की बढ़ती ही होती है।

ज्ञानीजनों का कथन है कि जन्म-मरण को बढ़ाना जैसे अपने-अपने हाथ की बात है, उसी प्रकार उन्हें घटाना और अन्ततः सर्वथा नष्ट कर देना भी अपने ही हाथ की बात है। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—प्रभो ! जीव जन्म-मरण कैसे घटाता है, संसार को किस प्रकार तोड़ता है, संसार की ग्रंथि का छेदन किस प्रकार करता है ? भगवान ने जो उत्तर दिया, वह यों तो बहुत गंभीर और विस्तृत है, मगर उसका सार यह है कि अगर जीव अठारह पापों का त्याग करे तो संसार घटेगा।

रोगी का रोग मिटाने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम यह कि वैद्य, रोगी को उत्तम औषध दे और दूसरे रोग होने का कारण, उससे होने वाली हानि और दवा से होने वाला लाभ उसे समझा दे। दवा दे देना एक साधारण बात है, मगर इन सब बातों को समझाने के लिए दिमाग चाहिए। समझने वाले के लिए भी यह सब भली-भाँति समझ लेना कठिन होता है। इस लिए यही कहा जाता है कि रोग था, जो वैद्य की दवाई से मिट गया। इतनी सी बात समझ में भी जल्दी आ जाती है। इसी प्रकार आप ज्यादा न समझ सकें

तो इतना ही समझ लें कि आत्मा में एक रोग है, जिसके कारण जन्म-मरण होता है जन्म-मरण से बचने के लिए इस रोग को हटाना चाहिए।

अहिंसा, दया आदि जन्म-मरण छुड़ाने के उपाय हैं। दूसरे की दया वास्तव में अपनी ही दया है। दूसरे के प्रति सत्य बोलना अपना रोग मिटाना है सत्य बोलने से बढ़ा हुआ संसार भी घटेगा। इस प्रकार अपना सुधार और अपना बिगाड़ अपने ही हाथ है। पाप का रोग किस प्रकार क्या करता है, यह सब समझने में दिमाग न चले, तब भी विश्वास के साथ भगवान् की बतलाई हुई दवाई का सेवन करोगे तो कल्याण ही होगा।

मतलब यह है कि अठारह पापों से संसार बढ़ता है और उनके त्याग से संसार घटता है। इस सब का थोड़े में स्पष्ट अर्थ यह है कि उद्देश्य कितना ही अच्छा हो, साधन के बिना काम नहीं होता। कोई भी इरादा, चाहे वह कितना ही ऊँचा और पवित्र क्यों न हो, तभी सफल हो सकता है, जब उसके अनुसार काम किया जाय। कल्पना कीजिए, कोई आदमी पूर्व में जाना चाहता है, मगर पश्चिम के रास्ते पर अग्रसर होता है, अपने अभीष्ट स्थान पर कैसे पहुंच सकता है? अकेले इरादे से कोई भी काम पूरा नहीं हो सकता। इरादे को पूरा करने के लिए काम करना अनिवार्य है। उद्देश्य के अनुसार आचरण हुए बिना

काम नहीं हो सकता है ? दुखी न होने और जन्म-मरण के चक्कर में न पड़ने का इरादा सब का हो सकता है, लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि इस अच्छे इरादे को पूरा करने के लिए काम भी अच्छा करो अच्छा काम किये बिना अच्छा इरादा सफल नहीं हो सकता।

पहले गौतम स्वामी ने संसार के बढ़ाने-घटाने के विषय में प्रश्न किया था। अब वह प्रश्न करते हैं कि—भगवन् ! जीव संसार को दीर्घ कैसे करता है ?

पहले यह भी देख लेना चाहिए कि बढ़ाने और दीर्घ करने में क्या अन्तर है ?

शास्त्र में कर्म प्रकृति के भेद बताये हैं। संसार कर्मप्रकृतियों की अपेक्षा भी बढ़ता है और काल से भी बढ़ता है। काल की अपेक्षा संसार की वृद्धि होना दीर्घ होना कहलाता है और कर्मप्रकृतियों से संसार का बढ़ना प्रचुर होना कहलाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् यह जीव संसार में कोल्हू के आसपास बैल की तरह चक्कर क्यों खाता है ? और इस चक्कर से कैसे निकल सकता है ?

अठारह पाप करने से चार अप्रशस्त बातें होती हैं और अठारह पाप त्यागने से चार प्रशस्त बातें होती हैं। भगवान् ने इन आठों प्रश्नों का निर्णय किया है।

प्रश्न किया जा सकता है कि बात तो एक ही है, फिर एक ही बात के विषय में चार प्रश्न क्यों किये गये हैं ? इसका उत्तर यह है कि कपड़ा एक होने पर भी उसकी सिलाई के लिए सुई कतरनी आदि अनेक साधन उपयोग में आते हैं। इन साधनों से ही कपड़े सिये जाने का काम होता है इसी प्रकार संसार का बढ़ना, घटना, बुराई-भलाई आदि सब का सम्बन्ध अठारह पापों से ही है।

पापों का त्याग करने के लिए उनके नाम याद रखने की आवश्यकता है कभी सब नाम याद न रहें तो कैसे काम चलेगा ? मगर कदाचित् नाम याद न रहे तो भी एक बात याद रखने से काम चल सकता है। यह बात एक उदाहरण से समझना ठीक होगा। कल्पना कीजिए, एक गाड़ी जा रही है। जबतक वह सीधी बे रोक जा रही है, तबतक तो कोई बात नहीं, लेकिन जहां वह अटकेगी वहां यही समझा जायगा कि कोई रोड़ा आगया है। इसी प्रकार आपकी जीवन-गाड़ी जबतक सीधी चलती जाय तबतक तो कोई प्रश्न ही नहीं, लेकिन जहां अटक जाय, समझलो कि यह पाप का फल है। प्रकृति के बिगड़ने और कष्ट होने पर समझो कि यह पाप का फल है।

ऐसा समझने से लाभ यह होगा कि आप होशियार हो जाएंगे। जहां गाड़ी अटक जाती है, गाड़ीवान रास्ता साफ कर

देते हैं और उन्हें सहूलियत हो जाती है। अगर कोई गाडीवान यह सोच कर रास्ता साफ नहीं करता कि-कौन सिरपच्ची करे ! दूसरा कोई साफ कर देगा तो अच्छा है । तो वह सिरपच्ची ही किया करेगा। जैसे कई–एक अज्ञान गाडीवान रास्ता साफ नहीं करते और केवल बैलों को मारते हैं, इसी तरह के विचार वाले कई आदमी पापों को तो काटते नहीं और कष्ट पाते हैं।

अन्य पदार्थों की गुरुता-लघुता

यहां तक जीव के हल्केपन और भारीपन का विचार किया गया लेकिन हल्केपन और भारीपन की वास्तविक स्थिति क्या है, यह जानना भी आवश्यक है। अतः गौतम स्वामी सारे संसार की गुरुता-लघुता का प्रश्न करते हैं। यह मूल बात हुई। इसी के संबंध में गौतम स्वामी पूछते हैं:—

मूलपाठ:—

प्रश्न—सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे किं गरुए, किं लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए ?

उत्तर—गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, णो गुरुलहुए, अगुरुयलहुए ?

प्रश्न—सत्तमे णं भंते ! तणुवाए किं गरुए, लहुए, गुरुयलहुए, अगुरुयलहुए ?

उत्तर—गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, गुरुयलहुए, णो अगुरुयलहुए । एवं सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही, सत्तमा पुढवी, उवासंतराइं सव्वाइं जहा सत्तमे उवासंतरे । जहा तणुवाए, एवं गरुयलहुए, घणवाय, घणउदहि पुढवी, दीवा य, सायरा, वासा ।

संस्कृत-छाया:-

प्रश्न—सप्तमं भगवन् ! अवकाशान्तरम् किं गुरुकं, किं लघुकं, गुरुलघुकम्, अगुरुलघुकम् ?

उत्तर—गौतम ! नो गुरुकं, नो लघुकं, नो गुरुलघुकं, अगुरुलघुकम् ।

प्रश्न—सप्तमो भगवन् ! तनुवातः किं गुरुकः, लघुकः, गुरुलघुकः, अगुरुलघुकः ?

उत्तर—गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुलघुकः, नो अगुरुलघुकः । एवं सप्तमो घनवातः, सप्तमो घनोदधिः, सप्तमी पृथ्वी, अवकाशान्तराणि सर्वाणि यथा सप्तमम् अवकाशान्तरम् । यथा तनुवातः, एवं गुरुलघुको घनवातः घनोदधिः, पृथ्वी, द्वीपाश्च, सागराः, वर्षाणि ।

झगड़ा नहीं हो सकता। पूरे हाथी के स्वरूप को देखना प्रमाण है और उसके एक-एक अंग का विचार करना नय है। हाथी के एक-एक अंग को एकत्र करने से सम्पूर्ण हाथी हो जाता है। इसी प्रकार सब नयों का समूह प्रमाण कहलाता है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और लीजिए। किसी ने तालाब में से एक अंजलि जल लेकर कहा—यह चुल्लू का पानी तालाब है या अतालाब है ? अगर चुल्लू के पानी को तालाब न कहा जायगा तो दूसरी, तीसरी चुल्लू का पानी भी तालाब नहीं कहलायगा। अन्ततः लाखों करोड़ों चुल्लू में भी तालाब नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार तालाब कहीं नहीं रह जायगा ! इसके विपरीत अगर एक चुल्लू को ही तालाब मान लिया जाय तो बाकी बचे जल को क्या कहा जायगा ? इसलिए जैनसिद्धान्त की मान्यता यह है कि एकान्त दृष्टि से किसी वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती। आचार्य विद्यानन्दी कहते हैं:—

> नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
> नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥
> तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
> समुद्रबहुता वा स्यात्तच्चेत्क्वास्तु समुद्रवित्॥

अर्थात्—नय के द्वारा वस्तु का जो एक अंश ग्रहण किया जाता है, वह अंश न तो पूर्ण वस्तु है, न एकदम अवस्तु है।

चाहे चले जाएँ, सिर कट जाय, तो भी उस वस्तु से दूर न होना जैसे रावण का सीता पर मोह हुआ था। रावण ने लंका नष्ट कराई लेकिन सीता पर से मोह नहीं हटाया। इसी प्रकार किसी वस्तु पर अत्यन्त मोह होना कांक्षाप्रदोष है।

कांक्षाप्रदोष का दूसरा नाम कांक्षाप्रद्वेष भी है। जिस किसी बात को पकड़ रक्खा है, उसके विरुद्ध बात पर द्वेष होना कांक्षाप्रद्वेष है। पकड़ी बात के विरुद्ध ऐसा द्वेष होना कि उसके विरुद्ध सच्ची बात कहने वाले की जान भी लेने पर उतारू हो जाना। जैसे रावण को मन्दोदरी और विभीषण ने सच्ची बात समझाई कि परस्त्री को लाना अपने कुल के योग्य काम नहीं है। दोनों का यह कथन था तो सत्य, मगर रावण उन्हें काटने दौड़ता था और विभीषण पर तो उसने लात से प्रहार भी किया था—

भरी सभा में रावण बैठा चरण-प्रहार चलाया।

विभीषण का कोई दोष नहीं था, पर जबर्दस्ती में दोष का विचार कौन करता है? इसी प्रकार स्वयं असत्य के प्रति दुराग्रहशील होना और उसके विरुद्ध सत्य प्रकट करने वाले पर नाराज होना, असत्य का त्याग न करना और असत्य के विरुद्ध कोई बात भी न सुनना, यह सब कांक्षाप्रद्वेष का काम है।

संक्षेप और सरल भाषा में कांक्षाप्रद्वेष का अर्थ अत्यधिक मात्रा में राग-द्वेष बढ़ाना है। तात्पर्य यह है कि चरमशरीरी

वैसा ही संसार नज़र आने लगता है। दृष्टि में विकार आने पर अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी लगने लगती है। काला मुंह करके गधे पर बैठना और ऊपर से झाडू का चवर दुरवाना किसे अच्छा लगेगा ? मगर होली खेलने वालों को यह भी अच्छा लगता है। वस्तु अच्छी नहीं है मगर दृष्टि की विकृति से बुरी वस्तु अच्छी लगती है।

इस प्रकार होली खेलने वाले से कोई परमात्मा का भजन करने के लिए कहे तो वह उत्तर देगा—'जाओ, तुम्हीं भक्त बने रहो !' उसे परमात्मा का भजन अच्छा नहीं लगेगा। परमात्मा का भजन अच्छी बात है, मगर प्रकृति की विकृति के कारण वह भी उसे बुरी लगती है। इसी तरह कांक्षाप्रदोष से दर्शनान्तर उत्पन्न हो जाता है—मनुष्य की बुद्धि में विपरीतता आ जाती है। वह कुछ का कुछ समझने लगता है।

अन्यमतियों संबंधी प्रश्नोत्तर

मूलपाठ—

प्रश्न—अण्णउत्थिया णं भंते ! एवं आइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति। तं जहा-इहभवियाउगं च, परभवियाउगं च, जं समयं इहभवियाउं पकरेति तं समयं परभवियाउं पकरेति, जं समयं परभवियाउगं पकरेति, तं समयं इहभवियाउगं पकरेति; इहभवियाउगस्स पकरणयाए परभवियाउगं पकरेति, परभवियाउयस्स पकरणयाए इहभवियाउं पकरेति; एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति। तं जहा-इहभवियाउगं च परभवियाउगं च। से कहमेयं भंते ! एवं ?

उत्तर—गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति, जाव परभवियाउगं च । जे ते एवं आहंसु मिच्छा ते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा एवं आइक्खामि, जाव-परुवेमि-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउगं पकरेइ, तं जहा-इहभवियाउगं वा, परभवियाउगं वा; जं समयं इहभवियाउगं पकरेति, णो तं समयं परभवियाउगं पकरेति, जं समयं परभवियाउगं पकरेति, णो तं समयं इहभवियाउगं पकरेति, इहभवियाउगस्स करणताए णो परभवियाउगं पकरेति, परभवियाउगस्स पकरणताए णो इहभवियाउगं पकरेति, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउगं पकरेति । तं जहा-इहभवियाउगं वा, परभवियाउगं वा ।

एकमायुष्कं प्रकरोति । तद्यथा--इहभवायुष्कं वा, परभवायुष्कं वा ।
तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति भगवान् गौतमो यावत् विहरति ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार (विशेषरूप से) बोलते हैं, इस प्रकार जनाते हैं और इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव, एक समय में दो आयुष्य करता है । वह इस प्रकार-इस भव का आयुष्य और पर भव का आयुष्य । जिस समय इस भव का आयुष्य करता है उस समय परभव का आयुष्य करता है और जिस समय परभव का आयुष्य करता है उस समय इस भव का आयुष्य करता है । इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य करता है । और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य करता है । इस प्रकार एक जीव, एक समय में दो आयुष्य करता है:-इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य । भगवन् ! यह क्या इसी प्रकार है ?

उत्तर—गौतम ! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं यावत् इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य । उन्होंने ऐसा जो कहा है वह मिथ्या कहा है । गौतम !

मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत्-प्ररूपणा करता हूँ कि एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है और वह इस भव का आयुष्य करता है अथवा परभव का आयुष्य करता है। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है उस समय परभव का आयुष्य नहीं करता और जिस समय परभव का आयुष्य करता है उस समय इस भव का आयुष्य नहीं करता। तथा इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य नहीं करता और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य नहीं करता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है-इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है! हे भगवन्! यह इसी प्रकार है! ऐसा कह कर भगवान् गौतम यावत् विचरते हैं।

व्याख्यान—

शंकाशील वालों को किसी वस्तु में विपरीतता मालूम होती है, वह भ्रम मिटाने के लिए ऐसे ही शास्त्र होते हैं पर यहां गौतम स्वामी इस विषय में प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—हे भगवान्! अन्य यूथिक (अन्य-मती) जालग्रन्थि के प्रकार से ऐसी [illegible] करते हैं। वे विपरीत

प्ररूपणा करते हैं। वे उलटी बात सामान्य रूपसे भी कहते हैं और व्याकरण, न्याय आदि से भेदाभेद, व्युत्पत्ती आदि बता कर विशेष रूप से भी यही-उलटी बात कहते हैं। वह यह कि एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है। इस भव का आयुष्य भी करता है और परभव का आयुष्य भी करता है। जिस समय वह इस भव का आयुष्य बाँधता है, उसी समय परभव का भी आयुष्य बाँधता है और जिस समय परभव का आयुष्य बाँधता है उसी समय इस भवका भी आयुष्य बाँधता है परलोक का आयुष्य बाँधता-बाँधता इस लोक का और इस लोक का आयुष्य बाँधता-बाँधता परलोक का आयुष्य बाँधता है भगवन्! अन्य यूथिकों का यह कथन क्या ठीक हो सकता है?

भगवान् ने उत्तर दिया-हे गौतम! एक समय में दो आयु बाँधने की बात गलत है। एक समय में, एक जीव दोनों भव का आयुष्य बाँधे, यह संभव नहीं।

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न अन्य मतावलम्बियों के लिए किया है किसी विवक्षित संघ से भिन्न संघ वालों को अन्य यूथिक कहते हैं। जो जिसे अपना मानता है वह उसके लिए स्व है और जो जिसे अपना नहीं मानता वह उसके लिए पर है यही बात स्वयूथिक और परयूथिकके विषयमें है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के मिलने से संघ बनता है। ऐसा संघ एक स्व का

होता है और दूसरा परका होता है साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं को जब एक शब्द से कहना होता है, तब 'यूथ' शब्द का व्यवहार होता है जिस यूथ में ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना हो उसे स्वयूथ कहते हैं और स्वयूथ से भिन्न यूथ परयूथ कहलाता है।

कहा जा सकता है कि वीतराग के मार्ग में स्व-पर का झगड़ा कैसा ? और जहां अपने-पराये का भेद है वहाँ वीतरागता कैसी ?

इसके उत्तर में ज्ञानी कहते हैं—जिस की धारणा और विचारणा सत्य है वह संघ अलग है और जिसकी धारणा एवं विचारणा गलत है वह संघ अलग है। अगर सत्य-असत्य का यह भेद न रहे तो फिर श्रोता और उपदेशक का भेद भी नहीं रहना चाहिए। फिर कौन किसे उपदेश देगा ? और कौन किसकी बात सुनेगा ? ऐसा अभेद मानने से साधु-असाधु का भी भेद न रह जायगा। मगर सत्य और झूठ एक नहीं हो सकते। सत्य और झूठ एक हो जाएं तो दुनिया के सारे व्यवहार नष्ट हो जाएंगे। जैसे चोर और साहूकार एक नहीं हो सकते, उसी प्रकार सत्य का अनुसरण करने वाला यूथ और झूठ का आचरण करने वाला यूथ एक नहीं हो सकता। सत्य और असत्य के कारण यूथ में भेद करना ही होगा।

[illegible], एक उदाहरण द्वारा समझना ऐसा उपयोगी होगा। [illegible] अपनी दुकान में [illegible]

रक्खूं, जिससे सब ग्राहक मेरे ही यहां आवें। ऐसा विचारने वाले को अपनी दुकान पर सब चीजें रखनी पड़ेगी। घी बिकने आया और आपने खरीद कर रख लिया। इतने में ही तेल बिकने आया। आपने तेल भी खरीद लिया। आपने सोचा-दोनों चीजें पैसे से आई हैं और दोनों बेचने के लिए हैं। ऐसा सोच कर आपने दोनों को मिला दिया। इतने में ही सूंघनी बिकने आई और आपने वह भी खरीद ली और घी-तेल के सम्मिश्रण में वह भी मिलादी। आपने सोचा-सब चीजें पैसे से आई हैं। सब बिकने के लिए हैं। मैं इनमें भेदभाव क्यों करूँ? आपने तीनों में भेद नहीं किया और तीनों एकमेक कर दी। अब आपके यहां घी का ग्राहक आया। उसने घी मांगा। आप तेल और सूंघनी के मिश्रण वाला घी उसे देने लगे। क्या ग्राहक ऐसा घी लेगा? तेल का ग्राहक उसे खरीदेगा? सूंघनी का ग्राहक आपके सम्मिश्रण को खरीदेगा? बल्कि यह माना जायगा कि तीनों चीजें किसी काम की नहीं रहीं। ऐसा अभेददर्शी दुकानदार हँसी का पात्र बनेगा। लोग उसे पागल कहेंगे। बाजार में उसकी साख नहीं रहेगी। उसकी दुकान पर ग्राहक नहीं फटकेगा।

इस व्यापारी से विरुद्ध किसी दूसरे व्यापारी ने अपनी दुकान पर घी, तेल आदि सब चीजें रक्खीं तो सही, पर रक्खीं अलग-अलग। जिस चीज का ग्राहक आया उसे वही चीज

है। इस व्यापारी के पास ग्राहक भी आवेंगे। यह धन भी कमाएगा और हँसी का पात्र भी नहीं बनेगा।

इसी प्रकार जो लोग साधु-असाधु में भेद न समझकर सोचते हैं कि—

काना देख नक्का ले भाई, जिसके अवगुन उसके माहिं।

हमें तो वेष से प्रेम है। कोई कैसा भी हो, हमें वेष की पूजा करनी है। ऐसा सोचकर जो गुण-अवगुण की पहचान नहीं करते वे घी-तेल आदि मिला देने वाले व्यापारी की तरह काम करते हैं। जिसे जिस वेष से प्रेम हुआ, वह उसी वेष को मानने लगा। इससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

अब आप कहेंगे—हमें क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि आपको सोचना चाहिए कि मैं गुण का ग्राहक हूँ। मैं कोरे वेष को नहीं मानूंगा। वेष के साथ गुण भी देखूंगा और गुणों को ही मानूंगा।

गुण देखे बिना केवल भेष को मानना अज्ञान है। बहुत से लोग साधु कहलाते हुए भी असाधु के काम करते हैं। उनके लिए शास्त्र में कहा है—

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु॥
कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय बूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे, विणिघायमागच्छइ से चिरं पि॥

मुनि का लिंग धारण करके कुसील का काम करने वाला ऋषीश्वरों की ध्वजा लेकर आजीविका करता है। ऐसा आदमी चिरकाल तक संसार में भ्रमण करेगा। जैसे पोली मुट्ठी के भीतर कुछ भी नहीं होता, वैसे ही वह साधु वेष है, जिसके साथ साधु के गुण नहीं हैं। इसीलिए कहा है—

भेष देख भूलो मती अलखजो आचार।

गुण देख कर पुजा करो। हां, अपना समभाव भी न छोड़ना और सोचना कि दुकान है तो उस में घी, तेल आदि सभी वस्तुएँ रहेंगी पर रहेंगी अपने-अपने ठिकाने। इसी तरह संसार में धर्मात्मा भी होंगे और पापात्मा भी रहेंगे। मगर जैसे घी-तेल आदि सव वस्तुएँ एक नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार साधु-असाधु एक नहीं हो सकते। प्रत्येक वस्तु का आदर उसके गुण के अनुसार होना चाहिए। धर्मी को धर्मी और पापी को पापी मानना चाहिए। संसार में असाधु और पापी रहेंगे तो जरूर मगर सावधान रहने वाला मनुष्य उनके धोखे में नहीं आयगा।

भगवान् नहीं चाहते थे कि स्वयूथ और परयूथ रहे। वे सब को सत्य का अनुयायी बनाना चाहते थे। लेकिन जब दुनिया एक न हो, असत्य न छोड़े, तब जो वास्तविक भिन्नता है उसे प्रकाशित करना ही पड़ेगा। संसार में केवल झूठ या केवल सत्य

भगवान् का उत्तर सुनकर गौतम स्वामी ने कहा-प्रभो ! आपका वचन तथ्य है । यह कहकर गौतम स्वामी तप और संयम में विचरने लगे ।

यह मूल सूत्र की बात हुई इसका रहस्य तो गंभीर है पर थोड़े में यह है कि एक समय में एक ही काम हो सकता है, दो काम नहीं हो सकते । जब ज्ञान का उपयोग होगा तब दर्शन का उपयोग नहीं होगा और जब दर्शन का उपयोग होगा तब ज्ञान का उपयोग नहीं होगा । अन्यतीर्थी एक समय में दो काम होना कहते हैं, इसीलिए भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है । यह बात वैसे तो जरा-सी मालूम होती है, पर आगे जाकर विशाल मतभेद उत्पन्न करती है ।

कदाचित् कोई कहे कि हम एक साथ दो काम करते हैं, तो ज्ञानी उसे बतलाते हैं कि तुम्हारी दृष्टि दूसरी है और ज्ञान की दृष्टि दूसरी है । ज्ञान की दृष्टि से एक जीव के एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते । कोई आदमी नदी में जा रहा है । नदी का पानी ठंडा है और ऊपर से सूर्य तप रहा है । नदी में जाने वाला आदमी शायद यह सोचे कि मैं गर्मी-सर्दी–दोनों एक साथ अनुभव करता हूँ; मगर उसका यह विचार मिथ्या है । दोनों का एक समय में अनुभव नहीं होता । जब सर्दी की ओर उपयोग जाएगा तब सर्दी का अनुभव होगा और जब गर्मी की ओर उपयोग लगेगा

तो गर्मी का ही अनुभव होगा । जब नदी के पानी की तरफ उपयोग होगा तब गर्मी का उपयोग नहीं हो सकता । मतलब यह है कि एक समय में एक ही उपयोग होगा—दो नहीं हो सकते ।

एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय ।

कोई एक साथ अनेक काम करने का दिखावा करते हैं, परन्तु ऐसा करने से एक भी काम ठीक तरह नहीं होता । व्याख्यान सुनते समय माला फेरने वाले या तो माला ही फेर सकते हैं या व्याख्यान ही सुन सकते हैं । जो व्याख्यान सुनते हैं वे उस समय माला नहीं फेर सकते और जो माला फेरते हैं वे उसी समय व्याख्यान नहीं सुन सकते । कई लोग सामायिक लेकर बैठते हैं, पर उसमें भी अनेक काम लेकर बैठते हैं । कौन जाने वे सामायिक करते हैं या अनेक काम करते हैं ! यह बात समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए ।

एक सेठ की पुत्रवधू ज्ञानी और बुद्धिमती थी । एक दिन उसका श्वसुर सामायिक लेकर बैठा था । इतने में एक आदमी बाहर से आया । उसने पूछा सेठजी कहां गये हैं ? मुझे उनसे बहुत आवश्यक काम है । उत्तर में सेठजी की बहू ने कहा—इस समय वे मोचियों के बाजार में जूते खरीदने गये हैं । वह आदमी मोचियों के बाजार में सेठजी को खोजने गया । उसने सारा बाजार ढूंढा, सेठजी कहीं दिखाई न दिये । वह लौट कर

सेठजी के घर आया। कहने लगा—वहां तो सेठजी मिले नहीं और मुझे जरूरी काम है। तब बहू ने कहा—वे मोची-बाजार से लौट आये हैं मगर सोंठ, मिर्च, पीपल आदि लेने के लिए पंसारी की दुकान पर गये हैं। वह आदमी भागा हुआ वहां गया। सेठजी वहां भी न मिले। बेचारा फिर लौटकर आया। सेठजी इधर घड़ी देख रहे थे कि कब सामायिक का समय पूरा हो और इसे समाप्त करूँ। समय पूरा होने पर उसने सामायिक समाप्त की। इतने में ही वह आदमी घूम-फिर कर आ पहुँचा।

आते ही उस आदमी ने कहा—सेठजी, आज आपको खोजते-खोजते हैरान हो गया। आप कहां चले गये थे ?

सेठजी बोले—मैं कहीं भी गया था। तुम्हें जो काम हो, कहो। अब तो मैं यहीं हूँ। किस प्रयोजन से मुझे खोजते फिरे ?

उसने अपना प्रयोजन बतलाया। सेठजी को जो कुछ कहना था, कहा। वह आदमी वापस चला गया।

उस आदमी के लौट जाने पर सेठजी बहू पर बहुत क्रुद्ध हुए। बोले—मैं तुम्हें बड़े घर की बेटी समझता था। तुम कैसी हो, यह आज मालूम हुआ। तुमने झूठ बोल कर उस बेचारे को वृथा ही परेशान किया।

बहू शांत रही। उसने धीरे से कहा—मैं और भी कभी झूठ बोली हूँ ? अगर पहले कभी झूठ नहीं बोली तो आज ही झूठ

दुकान पर चला गया था। क्या यह सत्य नहीं है? अगर यह सच न होतो आप कह सकते हैं—तू झूठ बोली।

सेठजी को सत्य प्रिय था। उसने कहा--तुम्हारा यह कहना तो सत्य है। मेरा मन वहाँ गया था।

सेठजी को सत्य प्रिय था, इससे उन्होंने बात मंजूर कर ली। पर आज तो साधु कहलाने वाले भी हलाहल झूठ बोलते हैं। झूठ और फूट से ही कलियुग आया है। अगर झूठ और फूट निकल जाय तो आज भी सतयुग है।

सेठ ने स्वीकार किया कि मेरा मन वहाँ गया था। बहू ने कहा—मैं साढ़े तीन हाथ के इस पुतले को नहीं मानती। मैं अन्तर्यामी को मानने वाली हूँ। इसी कारण मैंने पहली बार मोची-बाजार में और दूसरी बार पंसारी की दुकान पर जाना कहा था। सेठजी बोले—बस, अब ठीक है। मैं समझ गया। मोची के बाजार से लौटता हुआ मैं पंसारी की दुकान पर गया था। आज मुझे शिक्षा मिली। अब मैं अन्तःकरण को साफ करके ही सामायिक करूँगा। बहू ने कहा—वह दिन बड़ा ही धन्य होगा।

सेठ सुधर गया। कदाचित् आपका मन न रुके, तब भी सेठ की तरह सत्य बात को स्वीकार करो। एक समय में दो काम करना चाहोगे तो नहीं होंगे। कहावत है--

समय के प्रभाव से जैनों में भी अनेक बातें फैल रही हैं। उनके विषय में भी विचार करना है। विषय अन्तःकरण वाला हठ करता है–सत्य बात स्वीकार नहीं करता। किन्तु समताभाव वाला सत्य को समझते ही अपना लेता है। ज्ञानी का यही लक्षण है।

पार्श्ववर्ती-स्थविरों के प्रश्नोत्तर

मूलपाठ—

ते णं काले णं, ते णं समए णं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते एवं वयासी—थेरा सामाइयं, न याणंति; थेरा सामाइयस्स अट्ठं न याणंति; थेरा पच्चक्खाणं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति; थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं न याणंति, थेरा विवेगं न याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं न याणंति, थेरा विउस्सग्गं न याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं न याणंति ।

तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसिय-पुत्तं अणगारं एवं वदासीजाणामो णं अज्जो सामाइयं, जाणामो णं अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठं, जाव जाणामो णं अज्जो ! विउस्सग्गस्स अट्ठं ।

संस्कृत-छाया—

तस्मिन् काले तस्मिन् समये पार्श्वापत्यीयः कालास्यवेषी पुत्रो नाम अनगारो येनैव स्थविरा भगवन्तः, तेनैव उपागच्छति, उपागम्य स्थविरान् भगवतः एवमवादीत्—स्थविराः ! सामायिकं न जानन्ति, स्थविराः सामायिकस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः ! प्रत्याख्यानं न जानन्ति, स्थविराः ! प्रत्याख्यानस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः ! संयमं न जानन्ति, स्थविराः ! संयमस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः ! संवरं न जानन्ति, स्थविराः ! संवरस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः ! विवेकं न जानन्ति, स्थविराः ! विवेकस्य अर्थं न जानन्ति; स्थविराः ! व्युत्सर्गं न जानन्ति, स्थविराः व्युत्सर्गस्य अर्थं न जानन्ति ।

ततस्ते स्थविरा भगवन्तः कालास्यवेषिक पुत्र मनगारमेवम-वादिषुः--जानीमः आर्य ! सामायिकम्, जानीमः आर्य ! सामायिकस्य अर्थम् । यावत् जानीमः आर्य ! व्युत्सर्गस्य अर्थम् ।

शब्दार्थ—

उस काल और उस समय पार्श्वनाथ के वंश के कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार जिस तरफ स्थविर भगवान् थे, उस तरफ गये। जाकर उन स्थविर भगवंतों से कहने लगे—हे स्थविरो ! आप सामायिक को नहीं जानते, सामायिक के अर्थ को नहीं जानते। आप प्रत्याख्यान को नहीं जानते, प्रत्याख्यान के अर्थ को नहीं जानते; आप संयम को नहीं जानते, संयम के अर्थ को नहीं जानते। संवर को नहीं जानते, संवर के अर्थ को नहीं जानते। आप विवेक को नहीं जानते, विवेक के अर्थ को नहीं जानते। आप व्युत्सर्ग को नहीं जानते, व्युत्सर्ग के अर्थ को नहीं जानते।

तब स्थविर भगवंतों ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—हे आर्य ! हम सामायिक को जानते हैं, सामायिक के अर्थ को जानते हैं, यावत् हे आर्य ! हम व्युत्सर्ग को जानते हैं और व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हैं।

व्याख्यान—

उस काल और उस समय में, जब भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष जा चुके थे और करीब २५० वर्ष बाद भगवान्

महावीर का शासन चल गया था, भगवान् पार्श्वनाथ के चेलों की परम्परा के एक मुनि, जिनका नाम कालास्यवेषिपुत्र था, विचर रहे थे। इन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षा धारण की थी। उसी समय भगवान् महावीर के शासन के स्थविर भी विचर रहे थे।

यहाँ स्थविर का अभिप्राय सूत्र-स्थविर समझना चाहिए। जो सूत्र के अर्थ का विशेषज्ञ हो और जनसाधारण को सूत्र का अर्थ समझा दे, उसे सूत्रस्थविर कहते हैं। जिसके मन में सूत्र का अर्थ अच्छी तरह जम गया हो, जो सूत्र के अर्थ को निश्चल रूप से धारण किये हुए हो, ऐसे विशिष्ट श्रुतवेत्ता को श्रुतस्थविर की पदवी प्राप्त होती है।

शास्त्र में स्थविर का बहुत माहात्म्य बतलाया है। स्थविर को शासन की उन्नति एवं रक्षा का ध्यान रहता है। यद्यपि स्थविर वह काम नहीं कर सकता जो तीर्थंकर, गणधर और आचार्य एवं उपाध्याय की आज्ञा से बाहर हो, तथापि वह आज्ञा में रहता हुआ शासन की उन्नति करता है। आजकल स्थविर को नेता या अंगरेजी में 'लीडर' कहते हैं। नेता का काम राजा और प्रजा के बीच की अशान्ति मिटाकर शान्ति स्थापित करना है।

ठाणांगसूत्र के दसवें ठाणे (स्थान) में स्थविर का वर्णन है। उसमें ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, राष्ट्रस्थविर आदि दस

सोच करके संयम को अपनाएगा । असंयमी सदा से अशांति ही फैलाते आये हैं ।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार, स्थविर भगवान् के पास गये । उन्होंने स्थविर भगवान् से जो बात कही, वह ऊपर से तो विवेकपूर्ण नहीं जान पड़ेगी, लेकिन सरल आदमी हृदय के भावों को छिपाता नहीं है । वह जो बात भीतर होती है, वही मुख से कह देता है । आज यह पद्धति हो गई है कि हृदय में कुछ और है, जबान पर कुछ और है ।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् के पास जाकर कहा-'स्थविर ! तुम सामायिक नहीं जानते हो और सामायिक का अर्थ भी नहीं जानते हो । स्थविर ! तुम न प्रत्याख्यान जानते हो, न प्रत्याख्यान का अर्थ जानते हो । स्थविर ! तुम न संयम जानते हो, न संयम का अर्थ जानते हो । स्थविर ! तुम न संवर जानते हो, न संवर का अर्थ जानते हो । स्थविर ! तुम न विवेक जानते हो, न विवेक का अर्थ जानते हो । स्थविर ! तुम न व्युत्सर्ग जानते हो न व्युत्सर्ग का अर्थ जानते हो ।'

जो इन छह बातों को और उनके अर्थ को नहीं जानता, वह साधु ही क्या ! यदि इन छह बातों का संग्रह करके इन पर विचार किया जाय तो प्रकारान्तर से यही माना जायगा कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान से कहा कि तुम साधु

इन्होंने निश्चय-पूर्वक स्थविर भगवान् से कहा--तुम यह छह बातें और इनका अर्थ नहीं जानते।

मुनि की इस बात से जान पड़ता है—ऐसा अनुमान होता है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने यह सोचा होगा कि अगर यह स्थविर सामायिक आदि जानते होते तो हमारे साथ क्यों नहीं मिल जाते ? सामायिक आदि जानने वालों में यह फूट कैसे हो सकती है ? इसके अतिरिक्त अगर ये सामायिक जानते हैं तो जो बात हमारे मन में आई, वह इनके मन में क्यों नहीं आई ? इन्होंने हम से ही क्यों नहीं पूछा कि तुम सामायिक और उसका अर्थ जानते हो या नहीं ? इन सब कारणों से मैं समझता हूँ कि यह सामायिक नहीं जानते। मेरा अनुभव है कि ऐसा सोचकर ही कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् के समक्ष यह बातें कही हैं।

समायिक तो आप भी करते होंगे, परन्तु सामायिक और सामायिक का अर्थ जानते हैं या नहीं ? सामायिक किसे कहते हैं, यह प्रश्न आगे आने वाला है। परन्तु सामायिक करने वालों में द्वन्द्व देखकर एक तीसरा आदमी यह कह सकता है कि तुम सामायिक नहीं जानते। अगर सामायिक को जानते होते तो ऐसा द्वन्द्व क्यों मचाते ?

अब रही सभ्यता की बात, सो सभ्यता और मीठी बात करने वाले सभ्य ही होते हैं और सही मगर कड़ी बात कहने वाले असभ्य ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। (संभव है स्थविर भगवान् के ज्ञान का पता लगाने के लिए मुनि ने यह बात कही हो और चारित्र की उग्रता अर्थात् कषाय की मंदता है या नहीं, यह जाँचने के लिए कहने का यह ढंग अख्तियार किया हो। उन्होंने शायद यह सोचा हो कि इस प्रकार कहने से स्थविर भगवान् अगर उत्तेजित हो जाएँगे तो समझा जायगा कि इन में चारित्र की प्रबलता नहीं है। अगर शान्त रहेंगे तो उच्च चारित्रवान् होने का प्रमाण मिल जायगा। इस प्रकार परीक्षा लेने के और भी उदाहरण कहीं-कहीं मिलते हैं।—सम्पादक)

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने जिस अभिप्राय से यह बात कही, सो निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। मगर पूर्वोक्त कारणों से ही उन्होंने ऐसा कहा होगा। इससे यह शिक्षा अवश्य मिलती है कि सामायिक जानने वालों को मिलकर रहना चाहिए।

मुनि की इस प्रकार की कड़वी बात सुनकर स्थविर भगवान् के मन में जरा-सा भी रोष न हुआ। वे क्षुब्ध भी नहीं हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया—हे आर्य ! हम सामायिक को जानते हैं और सामायिक का अर्थ भी जानते हैं। इसी प्रकार प्रत्याख्यान आदि को भी जानते और उसका अर्थ भी जानते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि के प्रश्न का उत्तर स्थविर भगवान ने कितनी मीठी भाषा में दिया है ! स्थविर ने उन्हें 'आर्य' कह कर सम्बोधन किया है। 'आर्य' किसे कहते हैं, यह जान लेना चाहिये।

आरात् सकल हेय धर्मेभ्यः—इति आर्यः ।

जो सब बुरे काम छोड़ कर अच्छे काम करता है, वह आर्य कहलाता है।

मूलपाठ—

प्रश्न—तते णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे ते थेरे भगवंते एवं वयासि—जइ णं अज्जो तुब्भे जाणह सामाइअं, जाणह सामाइअस्स अट्ठं; जाव—जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं; के भे अज्जो! सामाइए, के भे अज्जो! सामाइअस्स अट्ठे? जाव—के भे विउस्सग्गस्स अट्ठे?

उत्तर—तए णं थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासि—आया णे

अज्जो सामाइए, आया णे अज्जो सामाइअस्स अट्ठे, जाव-विउस्सग्गस्स अट्ठे।

प्रश्न—तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वदासी—जइ भे अज्जो! आया सामाइए, आया सामाइअस्स अट्ठे, एवं जाव-आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोह-माण-माया-लोभे किं अट्ठं अज्जो! गरहह?

उत्तर—कालासवेसियपुत्त! संजमट्ठाए।

प्रश्न—से भंते! किं गरहा संजमे? अगरहा संजमे?

उत्तर—कालासवेसियपुत्त! गरहा संजमे, णो अगरहा संजमे। गरहा वि य णं सव्वं दोसं पविणेति, सव्वं बालियं परिण्णाए। एवं

खु णे आया संजमे उवहिते भवति, खु णे आया संजमे उवचिए भवति, एवं खु णे आया संजमे उवट्ठिते भवति।

संस्कृत-छायाः-

प्रश्न—ततः सः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः तान् स्थविरान् भगवतः एवमवादीत्-यदि आर्य ! यूयं जानीत सामायिकम्, जानीत सामायिकस्यार्थम्, यावत् जानीत व्युत्सर्गस्यार्थम्, किं भवतामार्य ! सामायिकम् ? किम् भवतामार्य ! सामायिक—स्यार्थः ? यावत्-किं भवतामार्य ! व्युत्सर्गस्यार्थः ?

उत्तर—ततस्त स्थविरा भगवन्तः कालास्यवेषिकपुत्रमनगार-मेवमवादिषुः--आत्मा अस्माकम् आर्य ! सामायिकम्, आत्मा अस्माकमार्य ! सामायिकस्यार्थः, यावत्—व्युत्सर्गस्यार्थः ।

प्रश्न—ततः स कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः स्थविरान् भगवतः एवमवादीत्—यदि भवताम् आर्य ! आत्मा सामायिकम्, आत्मा सामायिकस्यार्थः, एवं यावत्—आत्मा व्युत्सर्गस्य अर्थः, अवहाय क्रोध-मान-माया-लोभान् किमर्थमार्य ! गर्हत ?

उत्तर—कालास्यवेषिकपुत्र ! संयमार्थं गर्हा ।

प्रश्न—तब वह कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवंतों से इस प्रकार कहा-हे आर्य ! अगर आत्मा सामायिक है, आत्मा सामायिक का अर्थ है और इसी प्रकार यावत् आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो तुम क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके किसलिए क्रोध, आदि की गर्हा-निंदा करते हो ?

उत्तर—कालास्यवेषिपुत्र ! संयम के लिए ।

प्रश्न—भगवन् ! तो क्या गर्हा संयम है, या अगर्हा संयम है ?

उत्तर—कालास्यवेषिपुत्र ! गर्हा संयम है, अगर्हा संयम नहीं है। गर्हा सब दोषों को दूर करती है-आत्मा सर्व मिथ्यात्व को जानकर गर्हा द्वारा सब दोषों का नाश करता है, इस प्रकार हमारा आत्मा संयम में स्थापित होता है, इस प्रकार हमारा आत्मा संयम में पुष्ट होता है, इस प्रकार हमारा आत्मा संयम में उपस्थित होता है ।

व्याख्यान—

स्थविर भगवान् का उत्तर सुनकर कालास्यवेषिपुत्र [illegible] सोचने लगे यह स्थविर मेरी कही सभी बातों को [illegible] करते हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने [illegible]

को सरीखा समझना ही सामायिक है। आप सोचते होंगे कि शत्रु और मित्र पर समान भाव कैसे संभव है? मगर ऐसा समझना मोह दशा का परिणाम है। मोह के विकार से ही शत्रु और मित्र में अन्तर दिखाई पड़ता है। मोह के कटते ही यह अन्तर कट जाता है। अगर आप यह समझेंगे कि यह अन्तर नहीं कट सकता तो फिर आप सच्ची सामायिक भी नहीं कर सकेंगे। केवल साधु का वेष धारण करने से या कपड़े उतार कर बैठ जाने से ही सामायिक नहीं होती, किन्तु शत्रु-मित्र पर समान भाव रखने से ही सामायिक होती है। गीता में भी कहा है:-

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

अर्थात्—साधु तथा पापी इन में समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है।

आप कहेंगे, क्या कभी यह संभव है कि दोस्त और दुश्मन एक से प्रतीत होने लगें? मगर ऐसा न होता—ऐसा होना असंभव होता—तो यह उपदेश ही क्यों दिया जाता? संसार में दोस्त ही दोस्त होते या दुश्मन ही दुश्मन होते तो भी समभाव के उपदेश की आवश्यकता न होती। मगर दुनिया में दोनों हैं। इसीसे इस उपदेश की सार्थकता है। इस उपदेश का पालन करने से ही वास्तविक सामायिक हो सकती है। दुनिया

रखने को भी अपना फायदा माना तो आप किसके चेले हैं ? कोई आदमी आप को कुछ भी हानि पहुँचाए, मगर सोमल की तरह सिर पर आग रखने के समान कार्य तो नहीं करेगा । फिर भी आप उसे अपनी हानि करने वाला कहते हैं और सिर पर अंगार रखने वाले को अपना मित्र समझने वाले गजसुकुमार के अनुयायी बनना चाहते हो ! अगर आप हानिकर्त्ता को भी अपना लाभकर्त्ता समझेंगे तो फिर आपका शत्रु कोई भी नहीं रह जाएगा।

क्षमा धर्म और क्रोध पाप माना जाता है। पर क्षमा किसे कहते हैं और कहाँ होती है, यह समझ लेना चाहिए। कहावत है—

जी जी कर बतलावतां, काना क्रोध न आय।
आड़ा-टेढ़ा बोलता, खबर खम्या की थाय ॥

जब कोई जी, जी, कर रहा हो तब क्षमा का पता नहीं लग सकता। क्षमा का पता चलता है तब, जब कोई आड़ा-टेढ़ा बोले और उस आड़ी-टेढ़ी बात को सहन कर लिया जाय। आप मुझे 'घणी खमा' करें तब मेरी क्षमाशीलता की परीक्षा नहीं हो सकती ! किसी की कठोर बात सह लेने पर ही क्षमा की परीक्षा होती है।

हम साधु हैं। हमारे ऊपर सामायिक का बोझ रहता है। लेकिन आप पर क्या कुछ भी बोझ नहीं है ? आप [illegible]

बात सोचिए। आप मेरे पास क्यों आये हैं? हमारे पास धन-दौलत नहीं है, जो आप धन-दौलत के लिए आये हो। मगर हमारे पास जो थोड़ी-बहुत सम्पत्ति है, उसके सामने धन-दौलत तुच्छ है। हमारे पास सामायिक की शिक्षा है। अतएव उसी को ग्रहण करो। सोचो—हे आत्मन्! तुझे जो शत्रु दिखाई देते हैं, यह तेरा ही विकार है, और कुछ भी नहीं है। आप प्रतिदिन सामायिक करते हैं, मगर समभाव के मौके पर आप चूक गये, आपको समभाव का ध्यान न रहा तो आपने सामायिक क्या की! शस्त्र शत्रु के लिए ही रक्खा जाता है। शत्रु के आने पर शस्त्र फैंक दिया तो यह कायरता होगी। यों तो आप क्षमा करते रहें, मगर जब सामने विरुद्ध बात आवे तब क्षमा को भूल कर क्रोध में जलने लगें तो यह शत्रु के आने पर हथियार फैंकने के समान ही है। विरोधी बात उपस्थित होने पर जो क्षमा धारण करता है और विरोधी की भलाई करने वाला मानता है, वही सच्चा क्षमाशील कहलाता है।

विरोध भाव बहुत गहरा समझा जाता है। कोई किसी को शत्रु, [illegible] आदि कुछ भी किसी रूप समझता [illegible] यह हम नहीं [illegible]। अगर दुश्मन या प्रतिपक्षी कहें तो गहरी नहीं समझी जाती। इस प्रकार विरोध भाव ही गहरी समझी जाती है। [illegible] कहते हैं कि गहरी है कारण किसी को शत्रु

समझने की क्या आवश्यकता है? ज्ञानियों का विचार इस प्रकार होता है:—अगर कोई मेरे लिए नीच शब्द का प्रयोग करता है तो यह क्रोध को नीच कह रहा है। मुझे सचमुच क्रोध है तो मुझे क्रोध हटा देना चाहिए। अगर मुझमें क्रोध नहीं है तो यह अपने आपको ही गाली दे रहा है। इसमें मुझे बुरा मानने की क्या बात है? आपके सिर पर काली पगड़ी नहीं है फिर भी कोई कहता है आपने काली पगड़ी बाँधी है। अगर आप उसके कहने का बुरा मानते हैं तो समझना चाहिए कि आपको अपनी पगड़ी पर विश्वास ही नहीं है। आप स्वयं अपनी पगड़ी का अपमान कर रहे हैं। अगर आपके सिर पर काली पगड़ी है तो उस दशा में भी आपको बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है। जब आपने काली पगड़ी बाँधने में कोई बुराई नहीं मानी तो फिर काली पगड़ी को काली पगड़ी कहना कौन-सी बुराई हो गई? अगर आपको दूसरे का कहना बुरा मालूम होता है तो काली पगड़ी उतार कर फैंक दीजिए और समझ लीजिए कि यह हमें उपदेश दे रहा है। इस प्रकार की धारणा करने पर दुश्मन भी दोस्त हो जायगा। तात्पर्य यह है कि समभाव को सामायिक कहते हैं।

अब सामायिक के अर्थ का प्रश्न है। यहां अर्थ से प्रयो-जन का मतलब लेना चाहिए। अर्थात् सामायिक का क्या प्रयो-जन है? उदाहरण के लिए किसी ने पूछा-कन्या क्या होता है?

आप कहेंगे-चांदी का चपटा गोल सिक्का होता है। फिर उसने पूछा रुपये का क्या प्रयोजन है ? उससे क्या मतलब निकलता है ? तब आप उत्तर देंगे-वह विनिमय (लेनदेन) के काम आता है। उसके बदले में अन्य वस्तु खरीदी जाती है यही प्रश्न सामायिक के विषय में पूछा गया है कि सामायिक का प्रयोजन क्या है ?

सामायिक का प्रयोजन, आते हुए कर्मों को रोकना है। सामायिक से समभाव होता है और समभाव होने पर पहले जो पाप कर्म आते थे, वे रुकजाते हैं। यह सामायिक का प्रयोजन है।

प्रश्न हो सकता है कि सामायिक द्वारा पहले के कर्मों की निर्जरा किस प्रकार हो सकती है ? समभाव अभी धारण किया है। वह पूर्व कर्मों के क्षय का कारण कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि पहले जो पाप कर्म किया था उसका कारण विषम भाव था। जिस मन में विषमभाव आया था, उसी मन में समभाव आने से पाप का नाश भी हो सकता है। कुपथ्य से रोग होता है, पर पथ्य खाने से रोग तो नहीं ही होगा, साथ ही पहले का रोग भी घटेगा। इसी प्रकार सामायिक से नये पापों का आना रुक जाता है और पहले के पाप कट जाते हैं।

इस रीति से सामायिक करने से आत्मा को सब प्रकार-का आनन्द प्राप्त होगा जिन लोगों के लिए धन ही सर्वस्व है,

जो धन को ही सर्वश्रेष्ठ और सुख का एक मात्र साधन मानते हैं, वे कहेंगे—क्या सामायिक से दुनिया की गरज पूरी हो सकती है ? क्या सामायिक करने से हमें धन मिल जायगा ? इस प्रकार लोगों को धन की चाह लग रही है। अगर एक सामायिक के बदले एक रुपया दिया जाने लगे तो सामायिक करने वालों का शायद पार न रहे ! लोग सामायिक का प्रत्यक्ष और भौतिक फल देखना चाहते हैं। वे प्रत्यक्ष फल के लिए ललचा जाते हैं। इसी कारण वे भविष्य के महान् लाभ से वंचित रह जाते हैं। मगर प्रत्यक्ष फल पर नजर रखकर परम्परा से होने वाले लाभ को न देखना कैसी बात है, यह एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

एक मूर्ख आदमी को जंगल में एक कीमती हीरा मिल गया। यह घटना एक जौहरी देख रहा था। उसने हीरा देखा और समझ लिया हीरा कीमती है हीरा इसे मिला है, मगर मैंने आज तक जैसा हीरा कभी नहीं देखा था। आज देखने को मिला मेरे लिए यही क्या कम खुशी की बात है ? अगर मैं सज्जन हूँ तो इसकी कुछ भलाई करूँ, ऐसा सोच कर जौहरी ने उस मूर्ख से कहा-'यह चीज बहुत बढ़िया है। जिस चीज के लिए हम तरसते हैं, वैसी चीज तुझे मिली है'।

मूर्ख बोला-अच्छा, यह ऐसी चीज है ? क्या काम आती है यह ?

जौहरी—इससे अन्न, वस्त्र, मकान आदि सभी कुछ मिल सकता है। इस चीज के मिलने से दुनिया की सभी चीजें दौड़कर आ जाती हैं।

जौहरी ने जो कुछ कहा था, ठीक ही था। पर जिसे हीरा मिला था, वह निरा मूर्ख था। उसने जौहरी से कहा—अगर यह ऐसी चीज है तो मैं इसे संभाल कर रक्खूंगा।

मूर्ख ने यह कहा अवश्य, मगर जौहरी को विश्वास नहीं हुआ। उसने सोचा—यह मूर्ख है कहीं इस अनुपम रत्न का अपमान न कर डाले! जौहरी यह सोचकर वहीं छिपकर बैठ गया।

मूर्ख थोड़ी देर बाद बोला—हीरा, मैंने भोजन किया है। मेरा मुँह खराब हो रहा है। थोड़ा चोरकुटी का चूर्ण तो दो।

क्या इस प्रकार माँगने से हीरा कुछ दे सकता था? पर न देने से प्रत्यक्ष परिणाम देखने वाला मूर्ख उस हीरे पर अश्रद्धा करता था। उसे जौहरी की कही हुई सब बातों पर अश्रद्धा होती थी। इस प्रकार उसने एक-दो बार चूर्ण माँगा, जब हीरे ने नहीं दिया तो उसने हीरे से कहा—तू चूर्ण नहीं देता तो न सही, मगर एक-दो काम तो कर दे। मैं तुझ से एक कहानी पूछता हूँ, उसका जवाब दे। 'एक हाथ के पेटे में चार हाथ का पेट' बोल यह सही है?

बेचारा हीरा क्या बोलता! हीरे भी कहीं बोलते हैं! तब उस ने सोचा–मेरे लिए यह तो एक उपाधि हो गई। बनिये ने मुझे वहम में डाल दिया। अब तक मैं शान्ति में था, अब एक अशान्ति पैदा हो गई। ऐसी चीज रखने से क्या फायदा ?

मूर्ख की कमर में गोफन बँधी थी। उसने हीरा गोफन में रक्खा और गोफन घुमाते-घुमाते कहने लगा–ऐसा जाना कि फिर कभी मेरी नजर में न आना। जौहरी बैठा २ सब हाल देख रहा था। वह गया और हीरा उठा लाया। उस ने बाजार में उसे बेच दिया और मालामाल हो गया। सामायिक भी ऐसी ही अमूल्य वस्तु है। कहा भी है:—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिए।

चक्रवर्ती ने छह खण्ड की महान् ऋद्धि त्याग कर सामायिक तथा सर्वविरति को ग्रहण किया। जिसके लिए चक्रवर्ती अपने विशाल राज्य का हँसते-हँसते परित्याग कर देता है, उस सामायिक का महात्म्य कहाँ तक कहा जाय! सामायिक द्वारा शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, लेकिन होती है उसके अपने तरीके से। वह मूर्ख जैसे हीरे से बोरकुटी चूर्ण चाहता था, वैसे कुछ भी नहीं मिलता। और जब अनन्त शाश्वत सुख मिलेगा तब क्या मिलना शेष रह जायगा ? सामायिक के द्वारा बोरकुटी या चूर्ण चाहना

तो ऐसा ही है जैसे कोई हीरे को चखकर उसमें मिश्री की मिठास खोजने लगे। अतएव जिसने सामायिक करके उससे कोई तुच्छ चीज चाही, उसने सामायिक और सामायिक का अर्थ नहीं समझा। सामायिक से जो लोकोत्तर लाभ होता है। उसके आगे संसार के सभी लाभ तुच्छ हैं। सामायिक होने पर सामायिक लाभ तो इसी प्रकार कर आ जाते हैं, जैसे गेहूँ के साथ भूसा आप ही आ जाता है।

जब सामायिक इतनी अमूल्य वस्तु है तो उसके बदले कोई तुच्छ चीज चाहना कैसे ठीक कहा जा सकता है? अगर कोई आपकी सामायिक खरीदना चाहे तो आप कितने में बेचेंगे? कहते हैं-एक बार राजा श्रेणिकने पूनिया श्रावककी सामायिक खरीदनी चाही थी। श्रेणिकने सोचा-मुझे पूनिया श्रावक की सामायिक खरीदनी है, अतः उसे अपने पास न बुलाकर मैं स्वयं उसके पास जाऊँ। यह सोचकर राजा, श्रावक के पास गया। पूनिया उस समय सामायिक में बैठा था। राजा के जाने पर भी वह उसी तरह बैठा रहा। राजा ने सोचा—इसे कोई गरज नहीं है। गरज मुझे है। इसी कारण यह बैठा है, उठता भी नहीं है। राजा ने कहा- आपजी! मुझे एक चीज की जरूरत है, इसी लिए आपके पास आया हूँ।

पूनिया ने उत्तर दिया—आप राजा के स्वामी हैं। इस

कारण मेरे भी स्वामी हैं। मेरे घर ऐसी क्या चीज है, जिसकी जरूरत आपको हुई ?

राजा—आप जो करके बैठे हैं, उसकी मुझे आवश्यकता है।

पूनिया—क्या सामायिक की ?

राजा—जी हाँ।

पूनिया—आपसे यह बात किसने कही ?

राजा—स्वयं प्रभु महावीर स्वामी ने।

पूनिया—ठीक है। यह सामायिक मेरी नहीं है। मैं भगवान् से ही यह लाया हूँ। अतएव भगवान् की सेवा में चलकर पूछ लें कि सामायिक की क्या कीमत है ?

राजा—जैसी आपकी इच्छा।

राजा श्रेणिक पूनिया श्रावक के पास से उठकर भगवान् के पास गया। भगवान् से बोला—प्रभो ! पूनिया श्रावक सामायिक देने को तैयार है और मैं लेना चाहता हूँ। आप बीच में पड़कर सौदा तय कर दीजिए। आप सामायिक की जो कीमत बताएँगे, मैं दे दूँगा।

भगवान् ने पूछा—तुम्हारे पास कितनी सम्पदा है ?

राजा—अगर मैं अपना खजाना खोल दूं तो सोने-चांदी की बावन पहाड़ियां खड़ी हो जाएँगी।

भगवान्–तुम्हारी यह धन–सम्पत्ति तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। मूल्य तो अलग ही रहा! सामायिक इतनी मूल्यवान् वस्तु है!

जब आप सामायिक कर रहे हों, उस समय कोई लाख रुपये देने लगे तो क्या आप उन्हें ले लेंगे? साधु और साध्वी सदा सामायिक में रहते हैं। उन्हें कोई कीमती गहने देने लगे तो क्या वे उन्हें ग्रहण करेंगे? वे रोटी की भिक्षा मांगते हैं, पर बिना मांगे रत्न मिलने पर भी उसे नहीं लेंगे। वास्तव में सामायिक इतनी कीमती है कि [illegible] रत्न भी इसके आगे तुच्छ है। आप दो [illegible] होंगे
सामायिक पूरी हो गई और
आपके पल्ले बंध चुका है
आप उस रत्न को
फिर अमूल्य सामा[illegible]
है कि आप अमूल्य
और मन शान्त र[illegible]
शांति नहीं रह[illegible]
रहना। यही में
[illegible] रही है
है, यह [illegible]

आपके दिल को चावी लगाने के समान है। सामायिक के संस्कार जीवन व्यवहार में सब जगह पाये जाने चाहिए। आपको सोचना चाहिए-मैंने सामायिक पाई है तो घर के धंधे में पड़कर उसे निष्फल न होने दूँ। अर्थात् झूठ बोलकर, मायाचार करके या शत्रु-मित्र की खोटी कल्पना करके सामायिकसे च्युत न होऊँ। ऐसा न हो कि सामायिक से उठते ही दुकान पर बैठे तो सामायिक को भूल गये और यह याद रहा—

आओ मेरी हाट में, देऊँ तेरी टाट में।

समायिक इस प्रकार करो कि जीवन सफल हो जाय और सामायिक का प्रयोजन पूरा हो जाय। सामायिक में मन शान्त रक्खो और सामायिक से खुले होने पर भी सामायिक के अर्थ के विरुद्ध काम न करो। यही सामायिक का अर्थ है।

यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, इसी प्रकार प्रत्याख्यान, यावत् व्युत्सर्ग भी आत्मा ही है और आत्मा ही उनका अर्थ है, तो सामायिक आदि भेद करने की क्या आवश्यकता थी? यह बात वास्तव में समझने योग्य भी है। पहले कहा जा चुका है कि प्राणीमात्र पर समभाव होना सामायिक है। शत्रु-मित्र के भेद का जो भान हो रहा है, उसका मिटना और शत्रु-मित्र का मित्र रूप में दिखाई देना ही सामायिक है। इतना ही

भगवान्–तुम्हारी यह धन–सम्पत्ति तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। मूल्य तो अलग ही रहा! सामायिक इतनी मूल्यवान् वस्तु है!

जब आप सामायिक कर रहे हों, उस समय कोई लाख रुपये देने लगे तो क्या आप उन्हें ले लेंगे? साधु और साध्वी सदा सामायिक में रहते हैं। उन्हें कोई कीमती गहने देने लगे तो क्या वे उन्हें ग्रहण करेंगे? वे रोटी की भिक्षा मांगते हैं, पर बिना मांगे रत्न मिलने पर भी उसे नहीं लेंगे। वास्तव में सामायिक इतनी कीमती है कि बहुमुल्य रत्न भी इसके आगे तुच्छ है। आप दो घड़ी सामायिक करके सोचते होंगे सामायिक पूरी हो गई और हम स्वतंत्र हैं। लेकिन जो रत्न आपके पल्ले बंध चुका है, क्या आप उसे ढीला छोड़ देंगे? आप इस रत्न को संभाल कर तिजोरी में रक्खेंगे या नहीं? फिर अमूल्य सामायिक क्या इससे कम है? आपका अहोभाग्य है कि आप अमूल्य सामायिक पा सके हैं। उसे सुरक्षित रखना और मन शान्त रखना। आप सामायिक करके सर्वविरत की भांति नहीं रह सकते, तो भी देशविरत (श्रावक) की भांति रहना। घड़ी में एकबार चाबी दी जाती है और वह देर तक चलती रहती है। जो घड़ी चाबी देना बंद करते ही बंद हो जाती है, वह बिगड़ी हुई मानी जाती है। दो घड़ी की सामायिक

भगवान्–तुम्हारी यह धन–सम्पत्ति तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। मूल्य तो अलग ही रहा ! सामायिक इतनी मूल्यवान् वस्तु है !

जब आप सामायिक कर रहे हों, उस समय कोई लाख रुपये देने लगे तो क्या आप उन्हें ले लेंगे ? साधु और साध्वी सदा सामायिक में रहते हैं। उन्हें कोई कीमती गहने देने लगे तो क्या वे उन्हें ग्रहण करेंगे ? वे रोटी की भिक्षा मांगते हैं, पर बिना मांगे रत्न मिलने पर भी उसे नहीं लेंगे। वास्तव में सामायिक इतनी कीमती है कि बहुमूल्य रत्न भी इसके आगे तुच्छ है। आप दो घड़ी सामायिक करके सोचते होंगे सामायिक पूरी हो गई और हम स्वतंत्र हैं। लेकिन जो रत्न आपके पल्ले बंध चुका है, क्या आप उसे ढीला छोड़ देंगे ? आप उस रत्न को संभाल कर तिजोरी में रक्खेंगे या नहीं ? फिर अमूल्य सामायिक क्या उससे कम है ? आपका अहोभाग्य है कि आप अमूल्य सामायिक पा सके हैं। उसे सुरक्षित रखना और मन शान्त रखना। आप सामायिक करके सर्वविरत की भांति नहीं रह सकते, तो भी देशविरत (श्रावक) की भांति रहना। घड़ी में एक बार चाबी दी जाती है और वह देर तक चलती रहती है। जो घड़ी चाबी देना बंद करते ही बंद हो जाती है, वह बिगड़ी हुई मानी जाती है। दो घड़ी की सामायिक

आपके दिल को चाबी लगाने के समान है । सामायिक के संस्कार जीवन व्यवहार में सब जगह पाये जाने चाहिए। आपको सोचना चाहिए-मैंने सामायिक पाई है तो घर के धंधे में पड़कर उसे निष्फल न होने दूँ। अर्थात् झूठ बोलकर, मायाचार करके या शत्रु-मित्र की खोटी कल्पना करके सामायिकसे च्युत न होऊँ। ऐसा न हो कि सामायिक से उठते ही दुकान पर बैठे तो सामायिक को भूल गये और यह याद रहा—

आओ मेरी हाट में, देऊँ तेरी टाट में ।

समायिक इस प्रकार करो कि जीवन सफल हो जाय और सामायिक का प्रयोजन पूरा हो जाय। सामायिक में मन शान्त रक्खो और सामायिक से खुले होने पर भी सामायिक के अर्थ के विरुद्ध काम न करो। यही सामायिक का अर्थ है।

यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, इसी प्रकार प्रत्याख्यान, यावत् व्युत्सर्ग भी आत्मा ही है और आत्मा ही इनका अर्थ है, तो सामायिक आदि भेद करने की क्या आवश्यकता थी ? यह बात वास्तव में समझने योग्य भी है। पहले कहा जा चुका है कि प्राणीमात्र पर समभाव होना सामायिक है। शत्रु-मित्र के भेद का जो भान हो रहा है, उसको मिटाना और शत्रु-मित्र को मित्र रूप में दिखाई देना ही सामायिक है। इसका ही

आपके दिल को चावी लगाने के समान है। सामायिक के संस्कार जीवन व्यवहार में सब जगह पाये जाने चाहिए। आपको सोचना चाहिए-मैंने सामायिक पाई है तो घर के धंधे में पड़कर उसे निष्फल न होने दूँ। अर्थात् झूठ बोलकर, मायाचार करके या शत्रु-मित्र की खोटी कल्पना करके सामायिकसे च्युत न होऊँ। ऐसा न हो कि सामायिक से उठते ही दुकान पर बैठे तो सामायिक को भूल गये और यह याद रहा—

आओ मेरी हाट में, देऊँ तेरी टाट में।

समायिक इस प्रकार करो कि जीवन सफल हो जाय और सामायिक का प्रयोजन पूरा हो जाय। सामायिक में मन शान्त रक्खो और सामायिक से खुले होने पर भी सामायिक के अर्थ के विरुद्ध काम न करो। यही सामायिक का अर्थ है।

यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, इसी प्रकार प्रत्याख्यान, यावत् व्युत्सर्ग भी आत्मा ही है और आत्मा ही उनका अर्थ है, तो सामायिक आदि भेद करने की क्या आवश्यकता थी? यह बात वास्तव में समझने योग्य भी है। पहले कहा जा चुका है कि प्राणीमात्र पर समभाव होना सामायिक है। शत्रु-मित्र के भेद का जो भान हो रहा है, उसका मिटना और शत्रु-मित्र का मित्र रूप में दिखाई देना ही सामायिक है। इतना ही

प्रकार है, यह बात टीकाकार ने स्पष्ट की है। उनका कथन है- जीव को ही सामायिक होती है, अजीव को नहीं होती। जीव वृक्ष भी है, मगर वह सामायिक नहीं कर सकता। वही जीव सामायिक कर सकता है जिसे विशेष ज्ञान हुआ हो। ज्ञान का अर्थ सिर्फ पोथी पढ़ लेना नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप का भान हो जाना ही सच्चा ज्ञान है। जिसे ज्ञान है, वही सामायिक कर सकता है। इस प्रकार सामायिक जीव का गुण है।

अगर सामायिक जीव अर्थात् आत्मा का गुण है तो उसे आत्मा क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न नहीं है, किन्तु कथंचित् अभिन्न हैं। जिस अपेक्षा से दोनों में अभेद है उसी अपेक्षा से स्थविर भगवान् ने सामायिक को आत्मा कहा है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सामायिक गुण और आत्मा गुणी में अभेद है, जैसे हीरा और उसकी कान्ति अभिन्न है। हीरा और कान्ति में से हीरा गुणी और कान्ति उसका गुण है, तथापि ये दोनों अभिन्न हैं। अभिन्न होने के कारण 'कान्तिमान् हीरा' ऐसा व्यवहार होता है। मिश्री गुणी है और उसका मिठास गुण है, लेकिन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा दोनों अभिन्न हैं। इसी प्रकार जीव और उसके ज्ञानादि गुण भी कथंचित् अभिन्न हैं। अगर गुणों को गुणी से सर्वथा भिन्न माना जाय तो गुणी नहीं रह जाता। अगर ज्ञान आदि

गुणों को गुणी-जीव से भिन्न माना जाय तो गुण रहेंगे किसमें ? गुणी में ही गुण रह सकते हैं। अतएव स्थविर भगवान् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्तर देते हैं कि सामायिक आत्मा ही है और सामायिक का अर्थ भी आत्मा ही है।

सामायिक का और उसके अर्थ का उत्तर सुनकर कालास्यवेषिपुत्र मुनि दंग रह गये। फिर उन्होंने प्रत्याख्यान और उसका अर्थ पूछा है। प्रत्याख्यान सामायिक से भिन्न तो है नहीं, फिर दोनों के विषय में अलग-अलग प्रश्नोत्तर क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि सामायिक में प्रत्याख्यान हो जाता है, फिर भी संसार के जीवों को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए इनमें भेद किया है। साधारणतया षट्द्रव्य कहने से सारा ही संसार आ जाता है, फिर भी लोगों को समझाने के लिए सब तत्त्व अलग-अलग बताकर भेद किया है। इसी प्रकार सामायिक और प्रत्याख्यान में भी भेद किया है। प्रत्याख्यान का अर्थ क्या है, यह आगे बतलाया जायगा।

आप सामायिक करते होंगे, मगर सामायिक का अर्थ समझकर करना चाहिए। केवल प्रत्याख्यान करके बैठने से ही सामायिक नहीं होती किन्तु बिना प्रत्याख्यान किये व्यवहार में भी होती है। समभाव की मर्यादा करने पर तो जितनी देर सामायिक में बैठा जाय, उतनी ही देर की जवाबदारी रहती है—

जितनी देर की मर्यादा की जाती है उतनी ही देर पापकर्म नहीं किया जाता, लेकिन सामायिक में न बैठने पर भी जो सामायिक होती है, उसमें समभाव रहने के कारण, वह अपने को भी आनन्द देने वाली होती है और दूसरे को भी आनन्द देने वाली होती है। अतएव ऐसा न समझो कि जब सामायिक में बैठे हैं तभी तक सामायिक है, फिर सामायिक नहीं है। किन्तु संसार-व्यवहार में रहते हुए भी भाव-सामायिक हो सकती है। यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है।

सामायिक को समझने वाला एक परिवार था। ऐसे परिवार के बालकों में सहज ही धर्म के संस्कार पड़ जाते हैं। उस परिवार में जन्मी हुई एक कन्या का विवाह हुआ। उस लड़की की रग-रग में धर्म की भावना भरी थी। वह समझती थी कि मुझे विवाह आदि सांसारिक कृत्य तो करने ही पड़ते हैं, लेकिन यह संसार सदा साथ देने वाला नहीं है। साथ देने वाला तो एक मात्र धर्म ही है।

विवाह के बाद लड़की सुसराल गई। उसने देखा-मेरी सुसराल के सब लोग उदास हैं। उसने सोचा—और घरों में नयी बहू आने पर प्रसन्नता का पार नहीं रहता, लेकिन इस घर में मेरे आने पर उदासी छाई हुई है। इस उदासी का क्या कारण होगा ? मैं अब इस घर की सदस्या हो गई हूँ। मेरा

कर्त्तव्य है कि घर वालों के सुख-दुःख को जानूं और दुःख हो तो उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करूँ। ऐसा विचार कर उसने अपने साथ की दासी से कहा—सासूजी से पूछो कि आज घर में किस बात का दुःख है? दासी गई और कारण पूछा।

सासू समझदार थी। उसने सोचा-हम तो दुखी हैं ही, नई आई बहू को क्यों दुखी करें? यह सोच कर उसने दासी से कहा-बहू से कह दो कि तुम्हारी ओर का कोई दुःख नहीं है। दुःख का कारण तो और ही है। तुम अभी यह जान कर चिन्ता में क्यों पड़ती हो? अगर तुम जान भी गई, तो भी कुछ प्रतीकार नहीं होगा। इसलिए हमारा दुःख हम ही को भोगने दो।

बहू स्वार्थी स्वभाव की नहीं थी। उसने यह नहीं सोचा कि अपनी ओर का दुःख नहीं है, बस, चलो छुट्टी पाई। अब हमें चिन्ता करने का क्या प्रयोजन है? बहू ने दासी भेज कर फिर कहलाया-अगर कहने से कुछ नहीं होता तो इस तरह रोने से भी कुछ नहीं होता। रोने से दुःख मिटता नहीं है, प्रत्युत बढ़ता है। आखिर कहिए तो सही कि दुःख क्या है? कौन जाने कोई उपाय निकल आवे

सासू ने समझा—यह बहू कुछ और तरह की मालूम होती है। आखिरकार धर्मात्मा के घर की बेटी है। यह स्वयं बहू के

पास आई और बोली—और कुछ दुःख नहीं है। इस मोहल्ले में एक बुढ़िया रहती है। उसका स्वभाव बड़ा लड़ाई खोर है। वह चाहे जब, चाहे जिससे लड़ती थी। इसलिए यह ठहरा दिया है कि वह नित्य एक घर से लड़ लिया करे। संयोगवश आज अपने घर की बारी है। आज ही तुम आई और आज ही वह आकर न जाने क्या-क्या बकेगी ! इसी विचार के कारण उदासी छाई हुई है।

सासू की बात सुनकर बहू ने कहा—इस ज़रा-सी बात के लिए इतनी भारी चिन्ता ! आप सबने उसकी आदत बिगाड़ दी है, नहीं तो वे माजी क्यों लड़तीं ? आप न लड़ने का उपाय करतीं तो वे लड़ना छोड़ देतीं। आज लड़ाई का सब काम मुझे सौंप दीजिए। मैं सब ठीक कर लूंगी। मैं इसका मंत्र जानती हूँ।

सासू ने कहा-'भले ही। मगर होशियार रहना। तुम नई आई हो और वह बड़ी लड़ने वाली है। उससे कोई जीत नहीं पाता।' बहू बोली-'चिन्ता न कीजिए।'

बहू घर के दर्वाजे में बिछौना डालकर बैठ गई। उधर बुढ़िया ने सोचा—आज लड़ाई का बड़ा अच्छा मौका है। आज ही नई बहू आई है और आज ही उस घर से लड़ने की बारी आई है। उसने यह भी सुना कि नई बहू ही उससे लड़ने को

तैयार हुई है। यह सुनकर उसे और भी खुशी हुई। वह खान-पान से निवृत हो कर, हाथ में लकड़ी ले वहां आ पहुँची। आते ही उसने कहा--तू कैसे गये-बीते घराने की है कि इस तरह दर्वाजे में बैठकर मुझ बुढ़िया से लड़ने को तैयार हुई है।

बुढ़िया को इस बात पर सहज ही क्रोध आ सकता है। मगर वहू सामायिक को जानती थी! उसे क्रोध नहीं आया। उसने यह भी नहीं कहा कि लड़ने मैं आई हूँ या तू आई है? पर उसने कुछ नहीं कहा। तब बुढ़िया कहने लगी--रांड अब बोलती भी नहीं है! कैसी चुप्पी मार कर बैठ रही है! लेकिन वहू हँसती-हँसती सुनती ही रही। तब बुढ़िया चिल्लाई--यह बेशर्म हँस रही है। बड़ी निर्लज्ज है! फिर भी वह कुछ न बोली। जब बुढ़िया धीमी पड़ती तब वह खांस कर फिर हँस देती। बुढ़िया का पारा फिर गर्म हो उठता। शाम तक यही क्रम चलता रहा। जब शाम हो गई तो दासी ने कहा—जीमने का समय हो गया है। रात होती है। चल कर जीम लो। वहूने कहा—यहीं भोजन ले आओ। यहीं जीम लेंगे।

दासी भोजन ले आई। वहू ने बुढ़िया को भोजन की ओर इशारा करके कहा—आओ, मांजी, भोजन कर लें। वहू का इतना कहना था कि बुढ़िया गर्ज उठी—मैं क्या भूखी मरती हूँ! क्या मुझे कुत्ती समझा है!

बहू ने धीमे से कहा—मनुहार करना मेरा काम था सो मैंने कर लिया। जीमना, न जीमना आपकी मर्जी की बात है।

बहू भोजन करने लगी। बुढ़िया बोली—कितनी बेशर्म है यह चण्डी, कि मेरे सामने ही खा रही है! इस प्रकार वह बड़-बड़ाती रही। बड़बड़ाते-बड़बड़ाते उसकी आंतें चढ़ गई। वह बेहोश होकर गिर पड़ी। बहू ने उसी समय दासी को बुलाया और बुढ़िया को भीतर ले लेने को कहा। दोनों ने मिलकर उसे उठा लिया। घर के भीतर ले गई। पानी छिड़का। बुढ़िया फिर होश में आ गई। तब बहू ने पूछा--सासूजी, अब आपकी तबीयत ठीक है न! आपका यह वृद्ध शरीर और इतना ज्यादा कष्ट उठाना पड़ा। अगर मैंने संभाला न होता तो न जाने क्या होता? अब आप क्रोध मत किया करो। आज मैंने जो उपाय किया है, वह मुहल्ले के सब लोग जान गये हैं। आप इसी तरह लड़ती रहीं तो वर्ष भर के बदले छह महीने में ही मर जाओगी। मरने के बाद न जाने कौन-सी गति मिलेगी। इसलिए अपनी सेवा का सौभाग्य मुझे दो; एक सासू के बदले दो की सेवा करके मुझे खुशी हासिल होगी।

बुढ़िया की आँखें खुल गई। उसने सोचा—यह बहू कुछ और ही तरह की है। उसने कहा—बहू! तू ठीक कहती है। अच्छा, मैं कोशिश करके देख सकती हूँ! सामने बहू ने खाना

हो तो जोश भी आता है और विश्राम भी मिल जाता है। इस तरह जोश चढ़ा-चढ़ा कर ही लोगों ने मुझे लड़ना सिखाया है।

बहू की मधुर बातें सुनकर बुढ़िया को शांति मिली। वह उसी के घर रहने लगी। बहू ने उसकी तन-मन से सेवा की। बुढ़िया ने बहू को अपने धन की स्वामिनी बना दी। सब जगह बहू की तारीफ होने लगी। झगड़े के समय लोग उसे मध्यस्थ बनाने लगे मुहल्ले की अशान्ति मिटी और शांति का वातावरण फैल गया।

बहू सामायिक में नहीं बैठी थी। फिर भी उसने सामायिक का फल पाया या नहीं ? इस प्रकार कहीं भी, किसी भी अवस्था में, समभाव रखने से सामायिक का फल अवश्य प्राप्त होता है।

सामायिक आत्मा के लिए है। पर होता यह है कि हँस का अंश कौआ खा जाता है। अर्थात् आत्मा के लिए की गई सामायिक को आत्मा में रहने वाले विकार बीच ही में हजम कर जाते हैं। वे उसे आत्मा तक नहीं पहुँचने देते। यह बताने के लिए और आत्मा के लिए की गई सामायिक को उन विकारों से बचाने के लिए ही यह प्रश्नोत्तर अपने सामने है।

विकार सामयिक को किस प्रकार खा जाते हैं ? मान

लीजिए, किसी ने सोचा-आज सामायिक की है तो दो पैसे मिल जावें या दुकान अच्छी चल जावे। बस, यही विकारों का सामायिक को खा जाना है। अतएव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि आत्मा के लिए की गई सामायिक को विकार न खाने पाएँ। सामायिक आत्मोन्नति के लिए है। आत्मोन्नति के बिना सुख नहीं मिल सकता और आत्मोन्नति होने पर संसार के सब सुख तुच्छ हैं। अतएव सांसारिक तुच्छ वस्तुओं के लिए सामायिक रूपी रत्न को नहीं लुटाना चाहिए।

ग्रंथ में पूनिया श्रावक के पास केवल बारह आने की पूंजी बतलाई है। वह इसी पूंजी से अपना काम चलाता था और रोजगार करता था। इसीसे श्रेणिक राजा ने सोचा होगा कि ऐसे गरीब की सामायिक मोल लेने में क्या कठिनाई हो सकती है? लेकिन पूनिया श्रावक ने इस गरीबी दशा में भी अपनी सामायिक नहीं दी और कहा—सामायिक के लिए राज्य-सम्पदा पर नहीं लुभा सकता। सामायिक के मुकाबिले राज्य-सम्पत्ति तुच्छ है। क्या कोई पुरुष धन के लोभ में आकर अपनी आँखें देने को तैयार हो सकता है? नहीं। वह कहेगा आँखें ही न होंगी तो संसार के पदार्थ किस काम के? आँखें नश्वर भी हैं और एक न एक दिन छूटनी ही पड़ती हैं। फिर भी कोई देने को तैयार नहीं होता। तो सामायिक देने के लिए कौन विवेकवान्

तैयार हो सकता है, जो आत्मा के लिए है और सदा आत्मा के साथ रहती है।

प्रत्याख्यान का विवेचन

सामायिक के पश्चात् प्रत्याख्यान की बात चलती है। प्रत्याख्यान का साधारण अर्थ पर वस्तु का त्याग करना है। आन्तरिक और बाह्य पर-वस्तुओं का त्याग करना प्रत्याख्यान है। पाप के बाह्य और आभ्यन्तर कारणों का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। पाप का आभ्यन्तर कारण-कषाय है और बाह्य कारण संसार के मोहक पदार्थ हैं। सामायिक में बैठने पर इन सब का त्याग हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रत्याख्यान को सामायिक से अलग कहने का क्या कारण है।

सामायिक और प्रत्याख्यान को अलग-अलग क्यों किया गया है, यह बात समझने योग्य है इस संबंध में थोड़ा-सा जिक्र पहले किया जा चुका है। वैसे तो मनुष्य कहने से राजा-प्रजा सब का बोध हो जाता है, लेकिन श्रेणी की दृष्टि से भेद करने पर राजा और प्रजा को अलग-अलग बताना पड़ता है। ग्रंथों में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे हिरण्य का अर्थ सोना भी है और चांदी भी है। लेकिन जहाँ हिरण्य और सुवर्ण-दोनों पद साथ में प्रयुक्त होते हैं वहाँ हिरण्य का अर्थ सोना नहीं किया जाता, सिर्फ चांदी किया जाता है। इसी

प्रकार अकेले सामायिक शब्द का प्रयोग करने पर उसमें प्रत्याख्यान का भी अन्तर्भाव हो जाता है। लेकिन भेद की आवश्यकता रह जाने पर ही भेद किया है। यहाँ प्रत्याख्यान का अर्थ नियम है। सामायिक के सिवाय जो नियम लिया जाता है उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। चारित्र रूप गुण दो प्रकार के हैं-मूलगुण और उत्तरगुण। सामायिक मूलगुण में है और प्रत्याख्यान उत्तर गुण में माना जाता है।

मूलगुण और उत्तरगुण किसे कहते हैं, यह भी जानने योग्य है। जिसे एक बार स्वीकार करके फिर छोड़ा न जा सके वह मूलगुण है और जिसे इच्छानुसार स्वीकार किया जाय तथा छोड़ा जाय वह उत्तरगुण है। उत्तरगुण न होने पर भी मूलगुण रह सकता है, पर मूलगुण के जाने पर उत्तरगुण नहीं रह सकता। उत्तरगुण, मूलगुण की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। वृक्ष में मूल भी होता है और पत्ते भी होते हैं। पत्ते गिरते-उगते रहते हैं परन्तु मूल बना रहता है। मूल के बने रहने से फिर पत्ते आ जाते हैं। पत्ते कभी रहते हैं, कभी नहीं रहते। मगर मूल के अभाव में पत्ते नहीं ठहर सकते। इसी प्रकार मूलगुण बना रहे तो उत्तरगुण आते-जाते रहते हैं। मूलगुण के अभाव में उत्तरगुण कभी भी ठहर नहीं सकते।

वृक्ष के मूल का अस्तित्व है, इस बात की प्रतीति पत्तों से होती है। पत्ते आते-जाते रहने से मूल मालूम होता है।

अगर पत्तों का आना-जाना बंद हो जाय तो मूल नष्ट हो गया माना जाता है। यही बात मूलगुण और उत्तरगुण के विषय में भी है।

मूलगुण समभाव है। समभाव सदा बना रहना चाहिए। इसके साथ उत्तरगुण पौरुषी, दो पौरुषी, उपवास आदि हैं। इस उत्तरगुण को भी बढ़ाते रहना चाहिए। उत्तरगुण को बढ़ाते रहने से मूलगुण की प्रतिष्ठा बढ़ती है। तात्पर्य यह है कि बेला, तेला आदि जो उत्तरगुण के नियम हैं, उन्हें प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान मूलगुण को बढ़ाने के लिए है। मूलगुण सामायिक है। इसकी रक्षा एवं वृद्धि के लिए प्रत्याख्यान रूप नियम है। इस प्रकार प्रत्याख्यान का अर्थ यहां नियम समझना चाहिए।

मूल विद्यमान रहे तो पत्तों के गिरने और आने-दोनों में ही शोभा है। इसी प्रकार तप आदि कभी हों, कभी न हों, तो कोई बुराई नहीं है, मगर मूलगुण बना रहना चाहिए। मूलगुण होगा तो उत्तरगुण भी हो जाएँगे और उत्तरगुण के होने से मूलगुण की वृद्धि होगी।

अब प्रत्याख्यान का अर्थ (प्रयोजन) क्या है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। लोग समझते हैं कि संकटी तेला करने से कष्ट मिट जायगा, लेकिन स्थविर कहते हैं कि समभाव रहने

पर भी उपाधि के जोर से जो आस्रव होता है, वह प्रत्याख्यान से रुक जाता है। यह प्रत्याख्यान का अर्थ यानी प्रयोजन है।

मान लीजिए एक आदमी ने आम खाने का त्याग नहीं किया है। अतएव जहाँ से आम बिकने आते हैं, वहाँ का ध्यान लगाता है। वह सोचता है। इस साल आम की फसल अच्छी है। इसके बाद जो छोटी-छोटी केरी (अमिया) लगीं, तब उन के प्रति भी उसकी भावना ऐसी ही रही। धीरे-धीरे आम पक गये। पके आम खा कर वह कहता है—इस साल खूब आम खाये! बड़ा आनन्द रहा। इस प्रकार आम का त्याग न होने पर आम वृक्ष में मंजरी लगते ही भावना उस ओर दौड़ जाती है। यह आस्रव है।

दूसरे आदमी ने आम खाने का त्याग कर दिया। उस के लिए आम की फसल आना और न आना बराबर है। फसल आने पर उसे द्वेष नहीं और फसल न आने पर राग नहीं। जो आम का त्यागी नहीं, वह आम की फसल नष्ट हो जाने पर दुःख प्रकट करता है और फसल आने पर प्रसन्न होता है। लेकिन आम का त्यागी समभाव में स्थित रहता है। इस तरह त्याग करने से आस्रव रुक जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर कोई आम खाने का त्याग न करे और सिर्फ राग-द्वेष का त्याग कर दे तो क्या [illegible]

मुक्त नहीं हो सकता ? मगर रचनात्मक कार्य के बिना सब काम थोथे हैं। रचनात्मक कार्य से क्या लाभ होता है, इसे समझ लीजिए। सुनते हैं, भारत में छह करोड़ आदमी भूखे रहते हैं। आप प्रतिदिन माला जपते हैं लेकिन आपके जाप से उन भूखों मरने वालों को क्या लाभ हो सकता है ? क्या इससे उनकी भूख मिट जायगी ? भगवान महावीर ने भूखों की भूख मिटाने के लिए रचनात्मक कार्य बतलाया है उन्होंने कहा है—प्रत्येक मनुष्य को तीस दिन में छह दिन उपवास करना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हारा शरीर भी अच्छा रहेगा, शारीरिक हानि न होगी, बल्कि लाभ होगा और सब रोग एवं दुःख मिट जाएँगे। भगवान् के इस उपदेश के अनुसार भारत की ३५ करोड़ जनता में से ३० करोड़ मनुष्य एक मास में छह उपवास करें तो क्या छह करोड़ के लिए भोजन नहीं बच जायगा ? ऐसा करने से आप को भी लाभ होगा और भूखों मरने वालों की भूख भी मिट जायगी। लेकिन लोग इस सहज रचनात्मक कार्य को कठिन मानते हैं और सिर्फ भावना की ओर दौड़ते हैं ?

आपको विचार करना चाहिए कि छह करोड़ भूखों मरने वालों की जवाबदारी आप पर भी कुछ है या नहीं ? कहा जा सकता है कि उन्होंने पापकर्म उपार्जन किया था। इसलिए वे भूखे मरते हैं। हमने पुण्य की कमाई की थी, इस कारण आनन्द

करते हैं। मगर आप क्यों नहीं सोचते कि आप पाप-पुण्य भोगने के लिए ही नहीं आये हैं, कुछ नवीन उपार्जन करना भी आपका कर्त्तव्य है। आपके घर में दस आदमी हों और आप उनके हिस्से का भोजन खा जावें या कुछ खाकर शेष को बिगाड़ डालें तो आप पाप के भागी होंगे या नहीं ? अगर उनके भूखे रहने से आपको पाप लगता है तो भारतवर्ष के निवासियों के विषय में भी यही विचार क्यों नहीं करते ? क्या भारतवासी आपके कुटुम्बी नहीं हैं ? क्षुद्र बुद्धि का त्याग कीजिए। विशाल बुद्धि धारण कीजिए। आपको अपना विशाल परिवार नजर आने लगेगा।

अगर आप रचनात्मक कार्य करें—खाने-पीने में संयम और सादगी से काम लें तो सहज ही भारत की भुखमरी भगाई जा सकती है। महीने में छह उपवास करने से आप निरोग भी रहेंगे। उपवास से मानसिक विकार भी दूर होंगे और भूखों का पेट भी भर जायगा। मगर लोग उपवास को हौवा समझते हैं। कदाचित् एकादशी करते हैं तो उसे हलुवों की दादी बना देते हैं। जो लोग उपवास का महत्त्व समझते हैं, वे तो उपवास करते ही हैं। उपवास करने से उत्तर गुण अर्थात् प्रत्याख्यान होता है। उत्तर प्रत्याख्यान होने से मूलप्रत्याख्यान में भी वृद्धि होती है।

अगर आप उपवास नहीं ही कर सकते, तो कम से कम इतना अवश्य कर सकते हैं कि जूठन छोड़कर अन्न न बिगाड़ें। अक्सर जीमनवार में कई लोग तीन-चार आदमियों के खाने लायक भोजन इसलिए परोसवा लेते हैं कि शायद फिर कोई परोसने वाला न आवे। ऐसे भोजन शूरे लोगों ने बड़ी खराबी की है। जो इतना भी नहीं कर सकते, वे और क्या करेंगे!

मतलब यह है कि प्रत्याख्यान का फल अनास्रव है। यह फल आत्मा के लिए ही है। इसी लिए स्थविर भगवान् ने कहा कि आत्मा ही प्रत्याख्यान है और आत्मा ही प्रत्याख्यान का अर्थ है।

अगर कोई प्रत्याख्यान करता है मगर वह आत्मा के लिए नहीं होता तो उसका अर्थ दूसरा ही होता है। प्रत्याख्यान किया परन्तु लालसा रही कि इस प्रत्याख्यान के बदले अमुक मिल जाए तो यह प्रत्याख्यान आत्मा के लिए नहीं हुआ। जैसे-मंगल, रवि या शनि को एकाशना इस अभिप्राय से किया कि यह ग्रह शान्त हो जाएँ तो यह प्रत्याख्यान आत्मा के लिए नहीं हुआ। जब आप आत्मा के लिए प्रत्याख्यान करेंगे तब मंगल, रवि आदि ग्रह आप ही शान्त हो जाएँगे। अतएव कामना से प्रेरित होकर कोई काम मत करो। अन्य ग्रंथों में भी निष्काम कर्म का ही विधान किया गया है बिना काम के प्रत्याख्यान करोगे तो किसी किस्म की कमी न रहेगी।

कामना से प्रेरित होकर प्रत्याख्यान आदि कर्म करने से अश्रद्धा भी उत्पन्न होती है। आपने देव को बुलाने के लिए तेला किया। अगर देव न आया तो तेला के प्रति अश्रद्धा हो जायगी। जो निष्काम होकर तेला करेगा, वह सोचेगा—देव चाहे आवे, चाहे न आवे, मैं तेला करता हूँ—तेला करना मेरा काम है। मैं आत्मा के लिए तेला करता हूँ।

लोग देव को बुलाने के लिए तेला करते हैं, पर देव मन का भाव जानते हैं। जब मन के भाव मलीन होंगे तो देव कैसे आ सकते हैं? मन का भाव कामना करने से अच्छा नहीं रहता, निष्काम होने से अच्छा रहता है। कामना मनोभाव में मलीनता लाती है। फिर देव आवे कैसे? कामना करने और निष्काम रहकर कर्म करने में बड़ा अन्तर है। कोई यह सोचता है कि काम हो या न हो, मुझे पैसों से मतलब है। और कोई यह विचारता है कि पैसा मिले या न मिले मुझे अपना कर्त्तव्य पूरा करना है। जिसने पैसे को लक्ष्य बना लिया है, वह पैसों का ही हो रहता है। जो पैसों की परवा न कर कार्य करता है वह मालिक का हो जाता है। मालिक ऐसे आदमी का ध्यान रखता ही है। वह उसके काम का बदला देता ही है। इस प्रकार किया हुआ सांसारिक काम भी वृथा नहीं जाता तो निष्काम भाव से किया हुआ धर्म का कार्य वृथा कैसे जा सकता है?

निष्काम कर्म करने वाला अपने स्वामी को मोल ले लेता है। कहावत है–

पास में कौड़ी नहीं मैंने मुफ्त खुदा को मोल लिया।
ऐसा सैदा अनमोल किया और बदले में कुछ न दिया ॥

कवि कहता है–मैंने खुदा को मोल लिया है, पर ममता-कामना त्याग करके अर्थात् धन की एषणा, पुत्र की एषणा और लोक की एषणा का त्याग करके। मैं जब तन पर भी ममत्व न रक्खूंगा तो मुझमें और खुदा में क्या भेद रहेगा ? आत्मा और परमात्मा में सिर्फ ममत्व का ही अन्तर है। ममत्व हट जाने पर आत्मा और परमात्मा का अन्तर दूर हो जाता है।

आप ममत्व का त्याग कीजिए। अगर ममत्व नहीं छूट सकता तो कम से कम सामायिक, उपवास आदि से किसी प्रकार की कामना मत कीजिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अर्जुन ! तुझे काम करने का अधिकार है। फल चाहने का अधिकार नहीं है। अगर तू फल चाहेगा तो पतित हो जायगा।

संसार में आज जो पोप लीला चल रही है, उसका कारण लोगों की कामना बढ़ जाना ही है। बहुत से लोग साधुओं के

पास भी कामना लेकर ही जाते हैं। बल्कि ऐसे साधु कहलाने वाले के पास लोगों की भीड़ लगी रहती है जो लोगों को धन सम्पत्ति की बातें बतलाता है और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाता है। मैंने स्त्रियों को गाते सुना है—

जो आनन्द मंगल चावोरे तो मनाओ महावीर।

यह गाना प्रिय और अच्छा है, पर स्त्रियां इसका अर्थ शायद यह करती होंगी कि धन, पुत्र आदि चाहिए तो महावीर को मनाओ। लोक ऐसी चीजों से प्रेम करते हैं। मगर शास्त्र कहता है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात्—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन सदैव धर्म में लगा रहता है, देवता और चक्रवर्ती आदि भी उसके चरणों में आकर झुकते हैं।

कामना-वासना ने लोगों से ऐसे नीच देव पुजवाये हैं और ऐसे नीच गुरु करवाये हैं कि कहा नहीं जा सकता। कामना के कारण ही लोग झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा समझते और कहते हैं। कामना को जीतने से ही आनन्द मंगल होगा।

संयम का विवेचन

कालास्यवेषिकपुत्र अनगार का तीसरा प्रश्न यह है कि संयम और संयम का अर्थ क्या है ? स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया—हमारे मत से आत्मा ही संयम है और आत्मा ही संयम का अर्थ है।

अनगार कालास्यवेषिकपुत्र के प्रश्नों में भेद है, लेकिन स्थविर भगवान् के उत्तर में कोई भेद नहीं है। अतएव यह समझने की जरूरत है कि संयम और संयम का अर्थ क्या है ? तथा सामायिक और प्रत्याख्यान से संमय में क्या भिन्नता है ? अगर संयम, सामायिक और प्रत्याख्यान में कोई भिन्नता नहीं है तो संयम का दोनों से भिन्न कथन क्यों किया गया है ? और जब सामायिक एवं प्रत्याख्यान भी आत्मा है और संयम भी आत्मा ही है तो इनमें भेद क्या रहा ?

इस विषय को सूक्ष्मरूप में अधिकारी ही समझा सकता है। मैं पूर्वाचार्यों की सहायता से इसे समझाने की चेष्टा करूँगा।

टीकाकार कहते हैं कि सामायिक और प्रत्याख्यान से संयम कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है लेकिन इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न समझना है, अतएव देखना चाहिए कि इनमें विशेषता क्या है ? सामायिक में मूलगुण की विशेषता बताई है और प्रत्याख्यान में उत्तरगुण की। लेकिन संयम में क्या

विशेषता है ? 'संयम' शब्द 'यम् उपरमे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—अशुद्ध अर्थात् पापरूप क्रिया से आत्मा को हटा लेना। पाप-क्रिया से आत्मा को निकालना संयम है।

प्रश्न होता है, सामायिक और प्रत्याख्यान का अर्थ भी यही है, तब संयम में विशेषता क्या हुई ? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं—संयम संरक्षण करता है। पृथ्वीकाय आदि सब जीवों की रक्षा करना संयम है। सामायिक में निवृत्ति की प्रधानता है और संयम में प्रवृत्ति की प्रधानता है। उदाहरणार्थ—'एक आदमी कहता है-मैं जीवों को नहीं मारूँगा।' यह दोनों बातें अलग-अलग हुई। न मारना अलग बात है और बचाना अलग बात है। न मारने वाला उदासीनता भी रख सकता है, मगर बचाने में जीव-रक्षा के काम में सहयोग देना पड़ता है। मान लीजिए, किसी स्त्री ने किसी भी लड़के को न मारने की प्रतिज्ञा ली। वह किसी बच्चे को नहीं मारेगी, यह भी ठीक है, लेकिन न मारने मात्र से उसे मातृपद नहीं मिल सकता। माता-पद की अधिकारिणी वह तभी हो सकती है जब वह बालक की रक्षा और पालन करे। 'माता' शब्द 'माङ् माने' धातु से बना है। इसका अर्थ रक्षा और पालन करना है। अतएव रक्षा और पालन करने पर ही वह माता कहला सकती है। इस प्रकार न मारने और रक्षा करने

में बहुत अन्तर पड़ जाता है। कोई माता, बालक को जन्म दे कर अलग कर दे और पालन-पोषण न करे तो वह माता कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो सकती। बालक की माता वही कहलाएगी जो उसका पालन एवं रक्षण करेगी। बालक को जन्म देने वाली माता याद नहीं आएगी, पालन-पोषण करने वाली माता को ही वह स्मरण करेगा।

संयम शब्द का व्यवहार में भी प्रयोग किया जाता है। जैसे–'बालक को पालने में माता संयम से काम लेती है।' वास्तव में बालक का पालन पोषण करने में माता को संयम रखना पड़ता है। माता संयम न रक्खे तो बालक का पालन नहीं हो सकता। आज बालकों का पालन पशुओं की तरह होता है। लेकिन बालक के असली पालन की विधि ज्ञातासूत्र में मेघकुमार के अधिकार में बतलाई है। बालक को जन्म दे देना मातृधर्म नहीं है–यह तो हिंसा है। लेकिन उत्पन्न करने के बाद पालन करना, रक्षण करना दया है। ज्ञातासूत्र में, मेघकुमार के अधिकार में कहा है—

'तए णं सा धारिणी देवी तस्स गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए।'

उस गर्भ की रक्षा के लिए अनुकंपा से प्रेरित होकर धारिणी रानी ने क्या-क्या किया, यह बतलाते हुए शास्त्रकारों ने गर्भ और बालक के पालन करने की विधि पर अच्छा प्रकाश डाला है।

संसार-विलास करने से पेट में गर्भ आया, लेकिन इसमें दया नहीं हुई। पेट में आये गर्भ की रक्षा करने में दया है। धारिणी रानी के पेट में जो गर्भ आया था, उसकी रक्षा के लिए उसने क्या किया? यह बताने के लिए गणधर भगवान् कहते हैं:—

'नाइ तित्तं, नाइकडुयं, नाइकसायं, नाइअंबिलं, नाइमहुरं, जं तस्स गब्भस्स' हियं, मियं, पत्थयं देसे य काले य आहारं आहारेमाणी नाइचिंतं, नाइसोयं, नाइमोहं, नाइभयं, नाइपरित्तासं य ववगयचिंता सोयमोह भयपरित्तासा उउभयमाणसुहेहिं भोयणच्छायण-गंधमल्लालंकारेहिं तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ। नायाधम्मकहा, १ अ.

रानी ने अधिक तीखे, अधिक कटुवे, अधिक मीठे आदि हानिकारक पदार्थों के खाने का त्याग कर दिया—प्रत्याख्यान कर दिया।

शास्त्र में, गर्भवती के वर्णन में यह तो आया है कि गर्भवती ने इस प्रकार के भोजन का त्याग कर दिया, मगर उपवास करने का वर्णन कहीं नहीं आया। शास्त्र में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि गर्भवती ने उपवास किया। फिर भी कई बहिनें गर्भावस्था में उपवास करना चाहती हैं। अगर उन्हें उपवास करना है तो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य नहीं पालना और फिर गर्भ की रक्षा के बहाने तप का नाम लेकर गर्भ की

रक्षा न करना अनुचित है। वैद्यक शास्त्र में गर्भवती के लिए विधान किया गया है कि उसे न अधिक खाना चाहिए, न उपवास करना चाहिए। साथ ही यह भी कहा है कि गर्भवती पहले पहर में खाए नहीं और दूसरे पहर को खाये बिना लांघे नहीं। इस प्रकार गर्भवती की दया के लिए गर्भ रक्षा के निमित्त संयम से काम लेती है। उनका मन खट्टा, खारा खाने को ललचाता होगा, तब भी वे मन को रोकती हैं। जो चीज गर्भ को हानि पहुँचाती है, उसे खा लेना गर्भ की हत्या करना है। न केवल खाने में ही, किन्तु धारिणी रानी अधिक हर्ष, शोक, भय आदि भी गर्भ रक्षा की दृष्टि से नहीं करती थी।

लोग कहते हैं—जैनशास्त्र में लीलोतरी (हरितकाय) के त्याग के सिवा और क्या धरा है! पर ऐसा कहने वालों ने जैन शास्त्र को समझा ही नहीं। जैन शास्त्र में चरितानुयोग द्वारा विधिवाद बताया गया है।

गर्भवती भय, शोक, चिन्ता आदि करती है तो गर्भ पर भी उसका असर पड़ता है। आपके सामने कोई आदमी रोता हो तो आप पर भी उसका असर पड़े बिना नहीं रहेगा। जब सामने रोने वाले का भी असर पड़ता है तो गर्भ का बालक तो माता के साथ एकमेक सा होकर रहता है। जब माता की साढ़े तीन करोड़ रोमराशि में आग लगी होगी तो बालक कहाँ बच

जायगा ? उस पर भी आग का असर पड़ेगा ही। इसी से गर्भवती माता लोभ, मोह, चिन्ता, शोक आदि नहीं करती। वह सोचती है-ऐसा करने से मेरा हृदय कुम्हलाएगा, जिससे बालक पर बुरा असर पड़ेगा। जब बेल कुम्हलाएगी तो उसका फल बिना कुम्हलाए कैसे रह सकता है ? माता की चिन्ता से बालक को बहुत हानि पहुँचती है। कभी-कभी तो गर्भ मर भी जाता है। अगर नहीं मरता तो रोती शक्ल का पैदा होता है।

कदाचित् आप कहेंगे कि जिसने जैसे कर्म किये हैं, वह वैसा ही फल भोगेगा। बालक अपने कर्मों का फल भोगेगा; मगर आपने अपना कर्त्तव्य क्या पाला ? अपना कर्त्तव्य न पालकर, कर्म देखने के लिए कोई मां अपने बालक पर शिला रखती है ? प्रद्युम्नकुमार पर देव ने शिला रक्खी, फिर भी वह नहीं मरे। तो क्या कोई माता भी ऐसा कर सकती है ? यदि नहीं, तो निश्चय की बात व्यवहार में लाना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? रोने और शोक करने से गर्भवती पर बुरा असर पड़ता है। इसलिए गर्भवती को धारिणी के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए। अगर किसी गर्भवती का पिता या पति दुर्दैव से मर जाय तो गर्भवती अगर समझदार होगी तो गर्भ के लिए रोएगी नहीं। लेकिन लोगों ने ऐसा कुछ ढोंग बना रक्खा है कि गर्भवती होने पर भी गर्भवती को रोने का ढोंग करना ही चाहिए सिर और छाती आदि पीटना

ही चाहिए। लोगों को उसके वहां जाकर उसे रुलाना ही चाहिए। ऐसी प्रथा बनाने वालों या मानने वालों को यह विचार नहीं आता कि गर्भिणी के गर्भ की हत्या होगी या नहीं गर्भ की हत्या हो तो भले ही हो, मगर लोग अपने बनाये रीति--रिवाज का पालन करेंगे ही। यह कितनी बुरी बात है! दुख के आंसू तो किसी तरह नहीं रुकते, लेकिन रिवाज बनाकर रुलाना, रोने को रीति में दाखिल करना गर्भ की दया के सर्वथा प्रतिकूल-निर्दयता-पूर्ण बात है।

कहां तो शास्त्र की यह बात कि गर्भवती गर्भ की दया के लिए मोह, शोक आदि न करे और कहां आजकल की यह प्रथा कि कोई न रोती हो तो उसे रुलाना और न रोने वाली की निन्दा करना। एक चिउँटी की दया करने वाले और रुपया मिलने पर भी उसे मारने के लिए तैयार न होने वाले पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या किस प्रकार सहन करते हैं, यह एक महान् आश्चर्य की बात है!

जो लोग ऐसी व्यवहारिक बात भी नहीं समझ सकते, व्यवहारिक संयम का अर्थ भी नहीं जान सकते, वे शास्त्र में कहे संयम का अर्थ कैसे समझ सकेंगे? लोग शास्त्र के संकुचित अर्थ में पड़े रहते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि शास्त्र की बात का सच्चा अर्थ क्या है? शास्त्र में किस बात की शिक्षा दी गई

खानपान संबंधी लालसा को रोकने से ही बालक की रक्षा होती है। बालक को जन्म देना और बात है तथा बालक की रक्षा करना और बात है। इसी प्रकार सामायिक ले ली, मुनि हो गये, यह और बात है तथा संयम पालन और बात है। सामायिक लेना और साधु हो जाना बालक को जन्म देने के समान है। किसी को न मारने से निवृति हुई है? सच्चा साधुपन तो जीवों की रक्षा में है। जीव का संरक्षण प्रवृत्तिभाव है संयम में इस भाव की प्रधानता है।

कहा जा सकता है कि साधु अगर संरक्षण करता है तो किसी को कुछ देता क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि साधु में सब जीवों के संरक्षण का पूरा भाव है। अतएव वे इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि एक जीव के संरक्षण में दूसरे की हत्या न हो। वे प्राणिमात्र का संरक्षण चाहते हैं, अतएव उनके संरक्षण का ढंग यह है कि किसी भी जीव को कष्ट न होने पाय। जिस संरक्षण से एक का संरक्षण हो और दूसरे का घात हो, वह साधु की मर्यादा से बाहर है।

आप गृहस्थ हैं। संरक्षण करना आपका भी कर्त्तव्य है। लेकिन कोई आदमी आपसे कहने लगे—मैं भूखा मर रहा हूँ। मुझे बकरा मार कर खिलाओ। तो क्या आप ऐसा करेंगे? आप उसे यही उत्तर देंगे कि—'मैं बकरा खाता होता तो तुझे

जीवों की हिंसा का पहले त्याग क्यों कराते हैं? इसका कारण यह है कि बकरा आदि प्रत्यक्ष जीव हैं और वनस्पति आदि शास्त्र की भाषा से जीव हैं। शास्त्र में स्थूल, सूक्ष्म, अपराधी निरपराधी की व्याख्या करके श्रावक को दया का स्वरूप बतलाया है, जिससे संसार-व्यवहार का निर्वाह भी हो जाय और जीवों की रक्षा भी हो जाय। ऐसा होते हुए भी आप अपने स्वार्थ के लिए तो सूक्ष्म हिंसा का त्याग न करें किन्तु दूसरों की दया के लिए सूक्ष्म हिंसा का नाम लेकर दया न करें, यह कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है? साधु की समानता करने चलते हो तो सचित्त पानी पीना छोड़ो। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करो और साधु का पूरा धर्म धारण करो। खुद कच्चा पानी पीना छोड़ नहीं सकते, लेकिन दूसरे को पिलाने के समय कच्चे पानी की हिंसा का नाम लेकर न पिलाना, यह धर्म नहीं, धर्म का बहाना है।

साधु मन, वचन, काय से प्राणी मात्र का कल्याण करते हैं। वे किसी भी जीव की हिंसा नहीं चाहते। जीव-हिंसा से बचने के लिए शास्त्रों में अनेक विधान किये गये हैं। पांच समिति और तीन गुप्ति का विधान इसी उद्देश्य से है। अनेष-णीय आहार का त्याग भी जीवरक्षा के लिए ही बतलाया है। इस प्रकार संयम का अर्थ रक्षा करना है। यह जीव-रक्षा आत्मा के लिए ही है। अतएव आत्मा ही संयम है और आत्मा ही संयम का अर्थ (प्रयोजन) है।

संयम का फल अनास्रव है। माता, बालक की रक्षा के लिए पहले मनचाहा आहार खाना छोड़ती है इस प्रकार पहले वह निवृत्ति का आश्रय लेती है, फिर बालक की दया में प्रवृत्त होती है इसी प्रकार साधु संसार के कामों से निवृत्त होकर जीवों की दया में प्रवृत्त होते हैं। जैसे बालक पर दया करने के कारण ही माता, माता कहलाती है, उसी तरह साधु जीव-रक्षा करने के कारण ही साधु कहलाता है।

संयम आत्मा से भिन्न नहीं है। इसलिए आत्मा ही संयम है। संयम जीव ही करता है, अजीव नहीं करता और जीव भी आत्मा के लिए ही संयम करता है। अतएव आत्मा ही संयम और संयम का अर्थ है। ऐसा मानने पर ही संयम, संयम कहलाता है। जो ऐसा नहीं मानता उसके संयम को संयम नहीं कहा जा सकता। वह ढोंग है। कई मनुष्य नौवें ग्रैवेयक तक की करणी कर डालते हैं मगर वह केवल ढोंग और मान-सन्मान आदि के लिए ही। ऐसे लोगों की करणी (क्रिया) साधुपन में नहीं है। जो सिर्फ आत्मा के लिए ही संयम का पालन करता है, उसी का संयम ठीक है। यहाँ ऐसे ही संयम की बात चल रही है। आप लोग भी सुदृढ़ बनें, आत्मार्थी होकर रहें। किसी प्रलोभन में पड़कर अपने सुदृढ़ को किसी दूसरे काम में [illegible]

संसार संबंधी किसी वासना को पूरी करने के लिए और आत्मा के लिए काम करने में बहुत अन्तर है। यह बात जगत प्रसिद्ध है कि लालसा से काम करना एक बात है और लालसा को त्याग कर काम करना दूसरी बात है। अधिकांश लोग लालसा में पड़कर काम करते हैं, आत्मार्थी होकर काम नहीं करते। जिन कामों को लालसा के मारे सहज ही कर डालते हैं, आत्मार्थी होकर उन्हें करना कठिन समझते हैं। रोग होने पर रोटी खाना छूट जाता है। भोग-विलास भी छोड़ने पड़ते हैं और कमजोरी की हालत में दूसरों की गाली भी सहनी पड़ती है लेकिन कमजोर की गाली सहना कठिन हो जाता है। शरीर नीरोग हो और कोई जप-तप करने को कहे तो उस समय कितना कठिन मालूम होता है? उस समय यह खयाल ही नहीं होता कि तंदुरस्त रहते हुए यह काम करें तो रोग ही क्यों हो? इसीलिए किसी ने कहा है।

दुःख में सुमरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करे, दुःख काहे को होय॥

स्मरण, भजन, मर्यादा या संयम-कुछ भी कहो, सुख के समय याद नहीं आता। दुःख के समय ही उसका स्मरण होता है। एक कवि कहता है:-

तू ही तू ही याद आवे दरद में।
मात-पिता अरु भाई-भतीजा, काम पड्यौ मत जाजो; दरद में० ॥

इस भजन का अर्थ अच्छी तरफ भी लगाया जा सकता है। और बुरी तरफ भी। लेकिन हमें अच्छाई पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। बुराई की ओर देखना स्वयं बुराई है। जब रोग घेर लेंगे और कष्ट आएगा तब तो संसार की बातें छोड़नी ही पड़ेंगी। तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ देते? जो बातें मरण को बिगाड़ती हैं और रोग लाती हैं, अगर आज ही उनका त्याग कर दिया जाय तो क्या हानि है? आज तो भाई-बंद आदि सभी याद आते हैं, छूटते नहीं हैं, पर समय आने पर कोई काम नहीं आता।

और सदा के कामों को भूल रहे हैं। इस भूल को मिटाओ तो आत्मा का कल्याण होगा।

संवर का विवेचन—

संयम के पश्चात् संवर की बात आती है। कालास्यवेपिपुत्र अनगार ने कहा था—हे स्थविर! आप संवर भी नहीं जानते और संवर का अर्थ भी नहीं जानते। मुनि ने स्थविर पर यह आक्षेप किया था। लेकिन स्थविर ने उनसे कहा—हे आर्य! हम संवर भी जानते हैं और संवर का अर्थ भी जानते हैं।

आज प्रायः सब लोग संवर करना कहते हैं और अपने आपको संवर का जानकार मानते हैं। लेकिन मुनि, स्थविर से कहते हैं कि आप संवर को नहीं जानते और संवर का अर्थ भी नहीं जानते। मुनि के इस कथन से प्रतीत होता है कि संवर बहुत गहन विषय है, जिसे जानने के सम्बन्ध में स्थविर भगवान् पर भी संदेह प्रकट किया गया है। अतएव देखना चाहिए कि संवर क्या है और कालास्यवेपिपुत्र अनगार ने किस संवर को न जानना कहा है? तथा उस संवर में ऐसी क्या विशेषता है कि स्थविर भगवान्, मुनि से कहते हैं—हम संवर को भी जानते हैं और संवर के अर्थ को भी जानते हैं।

टीकाकार ने कहा है—इन्द्रियों और नोइन्द्रिय (मन) से निवृत्त होना संवर है। इन्द्रियाँ कान, आंख, नाक आदि पाँच

हैं। इन पाँच को व्यवहार ज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं। यहाँ नोइन्द्रिय का अर्थ निषेधरूप नहीं है। नाक, कान आदि इन्द्रियों के काम न करने पर भी जो काम करता रहता है उसे नोइन्द्रिय कहते हैं। इसे मन भी कहते हैं। इन्द्रियाँ जो काम करती हैं, उस में मन भी साथ देता है। मनकी प्रेरणा होने पर ही इन्द्रियाँ काम करती हैं। आप से कोई कुछ कह रहा था पर आप का मन अन्यत्र होने से आप सुनते नहीं थे। आप कह सकते हैं कि अगर मनही इन्द्रियों से काम लेता है तो मन को भी इन्द्रिय क्यों नहीं कहते ? मगर यह ठीक नहीं। किसी के मन तो हो मगर कान ठीक न हो तो क्या वह सुन सकता है ? इस विषय में अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। परन्तु जैन शास्त्रों का कथन है कि इन्द्रियाँ और नोइन्द्रिय अर्थात् मन के होने से ही काम चलता है। इन्द्रियाँ अलग हैं और इनसे काम लेने वाला अलग है। इन्द्रियाँ और मन उसके औजार मात्र हैं। इन्द्रियों को और मन को जोड़ने वाला एक निराला ही रहता है। मन, इन्द्रियों से स्वयं जुड़ा होता तो आँख के बदले नाक या कान की ओर भी कुछ जाता। इसलिए मन को इन्द्रियों से लगाने वाला, इनका नियन्ता और मनका स्वामी दूसरा ही है। आज का विज्ञान भौतिक रूप में मन तक पहुँच पाया है, लेकिन उसके आगे नहीं पहुँच पाया है। मगर अनेक वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि मन से आगे भी कुछ है। मन से आगे जो

कुछ है, उसका पता ज्ञानियों ने लगा लिया है। वे जानते हैं और कहते हैं कि मन से आगे आत्मा है। आत्मा ही मन का नियन्ता एवं स्वामी है।

मन का नियन्ता कोई न होता तो वह इन्द्रियों के साथ जुड़ता कैसे? इसके सिवा आप कहते हैं—मैंने अमुक बात सुनी सही, पर मेरा मन नहीं लगा। अब आप सोचिए—'मेरा' कौन है? जिसका मन लगा नहीं, वह कौन है? वह मन से भिन्न ही कोई पदार्थ होना चाहिए। इस लिए आत्मा और मन भिन्न-भिन्न हैं।

इसी सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि मन ही आत्मा है या आत्मा अलग है? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! आत्मा अलग है, मन अलग है। इस प्रकार भगवान् ने भी मन और आत्मा को अलग-अलग बतलाया है।

भगवान की कही हुई बात ही यहां इस प्रकार दोहराई गई है:—

देखूं देखूं होइने दाखूं दाखूं ठाम।

जो कुछ करता है, आत्मा ही करता है। इन्द्रियां तो आत्मा के बताये काम को करने वाली दासियां हैं। आप कहते हैं—चाकू ने कलम बनाया या हाथ ने कलम बनाया। पर चाकू या हाथ कलम बनाने वाला नहीं है। किन्तु हाथ और मन के

स्वामी आत्मा ने करण बनाया है। अतएव आप इन्द्रियों में और मन में ही न अटके रहो, वरन् इनके स्वामी आत्मा पर ध्यान दो।

सारांश यह है कि आत्मा, इन्द्रियों से और नोइन्द्रिय से निवृत्त होता है, उस निवृत्ति को ही संवर कहते हैं। इन्द्रियों से निवृत्त होने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय। ऐसा करना निवृत्ति नहीं है, वरन् उनकी हत्या करना है। उन्हें नष्ट कर देने को त्याग नहीं कहते किन्तु यह जो बेलगाम लग रहे हैं, इन्हें बेलगाम लगने से रोकना त्याग है।

संवर अधिकतर व्यवहार में ही होता है। मान लीजिए, सास-बहू की लड़ाई हुई। अगर सासू या बहू संवर को समझी होती तो सोचती—'यदि मैं भी इसके समान ही बन गई तो फिर मेरा व्याख्यान सुनना व्यर्थ है।' ऐसा सोचकर अगर दूसरी ने दूसरी का कहना सह लिया तो वह संवर हुआ। साधु के पास यहाँ-वहाँ बैठकर संवर करना ठीक है, मगर सच्चा संवर व्यवहार में ही हो सकता है। संवर करने के लिए ही कहा है—

[illegible]

[illegible] सुनि [illegible] पास न [illegible]।
[illegible] शुभ—अशुभ न गहोगे॥

[illegible] ने कहा है। जैन महात्मा ने भी [illegible] कहते हैं—

अपूर्व अवसर एहवो क्यारे आवशे ।
क्यारे थईशुं बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थ जो ।
सर्व सम्बन्धनो बन्धन तीक्ष्ण छेदने,
विचरशुं क्यारे महत पुरुष ने पन्थ जो ॥अपूर्व ॥

दोनों कविताओं के शब्द भिन्न-भिन्न हैं, पर अर्थ में भेद नहीं है। जैन महात्मा ने कहा है-ऐसा अवसर कब आएगा जब मुझसे इस प्रकार का संवर होगा। दूसरे कहते हैं-मैं कब वह स्थिति प्राप्त करूँगा कि दुःसह वचन सुनकर उनकी आग में न जलूँ। आग शब्दों में नहीं है, समझ में है। मेरी समझ ही उन शब्दों को आग बनाकर मुझे जलाती है। मैं अपनी समझ को आग न बनाकर शीतल कब बनाऊँगा! कब यह सोचूंगा-हे दृष्टा! तू किस भ्रम में पड़ा है! अगर तू उन वचनों के फेर में पड़ गया तो अपने आपको भूल जाएगा। अगर कोई तुझे आग देता है तो उसे भी तू शीतल बना ले। आग तभी बढ़ती है, जब उसमें ईंधन डाला जाता है। अगर मैं उस वचन को अपनी समझ से आग न बनाऊँ-उसमें ईंधन न डालूँ, तो आग बढ़ेगी क्यों? प्रभो! ऐसा दिन कब आएगा?

आज अगर कोई किसी से बुरे शब्द कहना चाहे तो उसके साधन भी बहुत हैं। बुरे शब्द लिखकर घर-घर पहुँचाए जा सकते हैं। इस प्रकार छपे कागज आपके पास आवें तो

उन्हें देखकर सोचना क्या इस कागज से अपने में आग लगाते हैं ? अगर आप संवर को जानते हैं तो आग को भी शीतल बना लोगे ।

सारांश यह है कि बुरे काम से इन्द्रियों को बचाना संवर है। संसार में रहते हुए अनेक अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होते हैं। अनेक गालियाँ देने वाले या भला बुरा कहने वाले मिलते हैं। जब आपके सामने बुरे शब्द आवें तो उन शब्दों को अमृत बनाकर पी जाओ। स्थविर भगवान् को कालास्य वेषि पुत्र मुनि के कठिन शब्द सुनने पड़े, लेकिन वे अमृत बनाकर पी गये। इसी लिए उन्होंने मधुरवाणी में कहा—आर्य ! हम संवर जानते हैं और संवर का अर्थ भी जानते हैं। अगर हम संवर न जानते होते तो आपकी कड़ी बात पर हमें क्रोध क्यों न आ जाता ? मगर संवर के न जानने का आरोप लगाने पर भी हमें क्रोध नहीं आया। हमारी इस बात से ही आप जान सकते हैं कि हमें संवर का ज्ञान है।

स्थविर भगवान् की इस बात को आप भी सोचिए। संवर का ज्ञान होने मात्र से कुछ भी न होगा। इसे आचरण में लाओगे तो कल्याण होगा।

अब यह देखना चाहिए कि सामायिक आदि से संवर में क्या अन्तर है ? इसे समझने के लिए संवर का स्वरूप क्या है ? आचा-

यिक, प्रत्याख्यान और संयम, यह तीनों संवर में ही हैं। फिर संवर को अलग क्यों कहा है ? एक वस्तु में दूसरी वस्तुओं से कोई विशेषता होती है, तभी उसका अलग निर्देश किया जाता है। सामान्य और विशेष का भेद होने पर भी अलग-अलग कथन किया जाता है। जैसे-भोजन कहने से खाने की सब चीजों का समावेश हो जाता है, फिर भी सब चीजों के नाम अलग-अलग गिनाये जाते हैं। जिसके नाम अलग-अलग हैं उनका वर्णन भी अलग-अलग होता है। भोजन की चीजों के नाम अलग-अलग होने पर भी उन सब को एक नाम 'भोजन' दिया जाता है। इसी तरह सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम और संवर का उद्देश्य तो एक ही है लेकिन इनका नाम अलग-अलग होने से इनकी व्याख्या भी अलग-अलग की जाती है। किसी न किसी विशेषता के कारण ही इनके नाम अलग-अलग पड़े हैं।

संवर का मतलब समझाते हुए कहा गया है कि इन्द्रियों और नोइन्द्रिय से निवृत्त होना संवर है। लेकिन क्या संवर के लिए इन्द्रियों को नष्ट कर दिया जाय ? मन को पागल बना दिया जाय ? या जैसा कि कई लोग कहते हैं कि नशे में भजन अच्छा होता है, तो नशा किया जाय ? ऐसा करना संवर नहीं, आस्रव है। इस प्रकार के पागलपन की अवस्था आत्मा ने अनेक बार भोगी है, फिर भी मुक्ति नहीं हुई। मुक्ति तो अभी

संवर है जब इन्द्रियों का नाश तो न किया जाय—नाक, कान, आंख आदि को जैसी की तैसी रक्खी जाय, मगर उनसे होने वाले आस्रव को रोक दिया जाय। यही सच्चा संवर है। आंख कोई अपराध नहीं करती। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में वे झलका देती हैं। काच के सामने जैसी वस्तु होगी, वैसी ही काच में प्रतिबिम्बित हो जायगी। यही बात आंखों के विषय में है। वस्तु को देखकर उसमें अच्छाई या बुराई, राग या द्वेष स्थापित करना मन का काम है। इसमें बेचारी आंखों का कोई कुसूर नहीं है। हमें यही सोचना चाहिए कि वस्तु जैसी है वैसी है। वह अपने स्वरूप में स्थित है। न उसमें अच्छाई है, न बुराई है। फिर उसे समभाव से क्यों न देखा जाय? उसे निमित्त बनाकर आत्मा में राग-द्वेष क्यों उत्पन्न किया जाय?

राजा का खजांची राजा के सब जेवर रखता और संभालता है। वह रत्न को रत्न, सोने को सोना और चांदी को चांदी ही समझता है। साथ ही यह भी समझता है कि यह जेवर मेरा नहीं है। वह यह नहीं सोचता कि इस समय कोई देखता नहीं है तो बेईमानी कर लूं। अगर वह बेईमानी करता है तो हरामखोर कहलाता है। मगर ईमानदारी से रखने के लिए न वह चांदी आदि फेंकता है, न जेवरों को नष्ट-भ्रष्ट करता है। अगर कोई जेवर इसके पास खराब हो जाय तो वह भंडारी नहीं रह

सकता। आँखों को जैसी की तैसी रहने दे और जेवरों को जैसा का तैसा बनाये रक्खे, मगर बेईमानी न करे, वही भंडारी बना रह सकता है। संसार में सभी वस्तुएँ रहेंगी और आँखें भी रहेंगी, मगर फिर भी संवर का पालन करना चाहिए। ऐसा किये बिना संवर हो ही नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु ईश्वरीय तत्त्व का बोध देने वाली है। ऐसा सोच कर आस्रव मत होने दो। अपने आत्मा की रक्षा करो।

यही बात उपनिषद् की दृष्टि से भी कही जा सकती है। स्याद्वाद की दृष्टि से किसी भी चीज को देखो, उसमें वास्तविकता का अंश मिलेगा ही। अनेकान्त दृष्टि के बिना सभी शास्त्र मिथ्या है और अनेकान्त दृष्टि से देखा जाय तो मिथ्या भी सत्य बन जाता है। ईशावास्योपनिषद् में कहा है:—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथाः, मागृधः कस्यस्विद्धनं ईशावास्योपनिषद्, १.

यहां जो कुछ कहा गया है, उसका आशय यही है कि पृथ्वी पर जो कुछ भी देखने में आता है, उस पर ईश्वरीय रंग लगा दे। उसे ईश्वर से आच्छादित कर दे।

पृथ्वी के ऊपर की सब वस्तुओं को ईश्वर से आच्छादित कैसे करना, इन पर ईश्वरीय रंग कैसे चढ़ाना? यह जानना

जरूरी है। कोई महल लाल, पीला या हरा कहलाता है। यद्यपि महल में अनेक चीजें हैं, कईएक उपादानों से उसका निर्माण हुआ है, लेकिन उसके ऊपर लाल रंग होने से वह लाल महल कहलाता है। यानी असल में महल का रंग लाल नहीं है, फिर भी लाल रंग ऊपर से चढ़ा देने के कारण ही वह लालमहल कहा जाता है। इसी प्रकार संसार के सब पदार्थों पर ईश्वरीय रंग चढ़ा देना चाहिए।

ऐसा रंग बना ले दाग नहीं लागे तेरे मन को।

ऐसा रंग बना ले कि तेरे तन-मन को दाग न लगे। सारे संसार को ईश्वरीय रंग से आच्छादित कर दे। यानी संसार के पदार्थों को त्याग से भोग। यह सोच कि यह सब पदार्थ ईश्वरीय हैं। मैंने इन पर ईश्वरीय रंग लगा दिया है। अगर मैं इन पर ममता करता हूं तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर से मैं इन्हें छीनता हूं। इसलिए मैं संसार के पदार्थों को त्याग से भोगूंगा।

आप कहेंगे, क्या खाना-पीना छोड़ देना चाहिए? लेकिन निमकहलाल राजा की सेवा करने वाला क्या भूखा मरता है? वह आदमी राजा का काम करके तनख्वाह लेकर खाता है और दूसरा चोरी करता है। इन दोनों तरह से खाने वालों में कुछ अन्तर है या नहीं? चुराकर खाने में और मालिक का दिया

खाने में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार ममत्व करके भोगने में और त्याग के साथ भोगने में भी अन्तर है। त्याग के साथ भोगना सब का धर्म है। खाते तो साधु भी हैं न खावें तो जिन्दा न रहें। परन्तु भगवान् ने कहा है—जो आज्ञा मैंने दी है, उससे बाहर होकर खाने वाला चोर है। ऐसा करने वाला मेरी आज्ञा से बाहर है।

आप भी भगवान् के श्रावक हैं। आप अपने व्रत की मर्यादा को ध्यान में रखकर उसी मर्यादा में खा सकते हैं। मर्यादा से बाहर नहीं भोग सकते। आपने विवाह किया है तो सब को आमंत्रण देकर और उस समय आपने जगत् की स्त्रियों को माता और बहिन के समान माना है। समस्त परस्त्रियों को माता-बहिन बनाया है। अब उन्हें अगर माता-बहिन नहीं मानते तो ईश्वरीय चोरी करते हो। आपने विवाह के समय जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप परस्त्री को त्यागे बिना स्वस्त्री का सेवन नहीं कर सकते। अगर सेवन करते हो तो यह त्याग से भोगना नहीं वरन् भोग से भोगना है।

जो मनुष्य संसार के पदार्थों को ईश्वरीय रंग से रंग देगा वह सोचेगा—मैं इस रंग में रह कर ही संसार के पदार्थों को त्याग से भोगूंगा, भोग से नहीं भोगूंगा।

हुए काम करना संवर है। इस प्रकार कार्य करने से इन्द्रियों और मन द्वारा होने वाला आस्रव रुक जाता है। आस्रव का का रुकना ही संवर है।

सामायिक में मूलगुण की विशेषता है, प्रत्याख्यान में उत्तरगुण की विशेषता है, संयम में जीवरक्षा की विशेषता है और संवर में विषय लालसा को जितने की विशेषता है।

जैसे भोजन करने से भूख मिट जाती है, उसी प्रकार संवर से आस्रव मिट जाता है। भूख रोटी से भी मिटती है और माल से भी मिटती है। फल दोनों का एक है, मगर नाम अलग-अलग हैं। इसी प्रकार सामायिक, प्रत्याख्यान आदि नाम अलग-अलग हैं, किन्तु सब का फल आस्रव निरोध ही है।

जिस भोजन से भूख मिट जाय वही भोजन है। जिससे भूख न मिटे उसे भोजन कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार जिससे आस्रव निरोध हो, वही संवर है। जिससे आस्रव का निरोध न हो, उसे संवर नहीं कह सकते।

कई लोग सांसारिक लाभ की लालसा से संवर करते हैं। आज मैंने संवर किया है, तो इसके प्रभाव से मेरा अमुक काम सिद्ध जाए। ऐसा सोचना संवर को नहीं समझना है। कहा है—

जब आँख बिना बहुत परेशान हमने देखा अजब का मेला।
जब आँख न थी देखा सब कुछ।
जब आँख आई न देखते हैं कुछ॥

कोई कहता है—जब आंख नहीं थी तब और कुछ देखता था और अब, जब कि आंख है, कुछ नहीं दीखता। इसी प्रकार संवर को समझने के पहले संसार के पदार्थों को और रूप में देखा जाता है, पर संवर को समझ लेने के बाद वही पदार्थ और तरह से नजर आने लगते हैं। ऐसा हो तब समझना चाहिए—संवर को जान लिया है। संवर को समझने से पहले ज्ञान की आंख नहीं थी। स्त्री को देखकर उसे भोगने की और सोना देखकर उसे लेने की इच्छा होती थी। संवर को समझ लेने पर, ज्ञान की आंख खुल जाने पर वह इच्छा नहीं रही। इस परिवर्तन का कारण हृदय का पलट जाना है। आंख आदि इन्द्रियां वही हैं, पदार्थ भी वही हैं, मगर हृदय का परिवर्तन हो गया है। इसी कारण भावना बदल गई। बिल्ली जिन आंखों से अपने बच्चों को देखती है, उन्हीं से चूहे को देखती है। लेकिन दोनों के देखने में कितना अन्तर है? इसी प्रकार ज्ञानी के देखने में भी आकाश-पाताल का अन्तर है।

ज्ञानियों का कथन है कि ज्ञान होने से पहले [illegible] थीं। ज्ञान होने के बाद सब समान नजर आते हैं।

किसी में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता । बिल्ली संवर नहीं कर सकती, न हम उसे उपदेश दे सकते हैं । हम आपको उपदेश देते हैं और आप संवर कर सकते हैं । इसलिए आप बिल्ली मत बनो । आप संवर को समझो । आस्रव त्यागो । कम से कम परस्त्री का त्याग करो । अगर इतना भी न कर सके तो संवर को समझे ही क्या !

स्थविर भगवान् ने कालास्यवेषिपुत्र मुनि से कहा—आत्मा ही संवर है और आत्मा ही संवर का अर्थ भी है उनके कथन पर शान्ति और एकाग्रता से विचार करो तो उसमें बहुत कुछ महत्व दिखाई देगा । संक्षेप में मैं इतना ही कहता हूँ कि संवर आत्मा ही करता है—चैतन्य—ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही संवर कर सकता है, इस लिए वह आत्मा से भिन्न नहीं है । संवर का फल भी आत्मा ही भोगता है, दूसरा कोई नहीं भोगता । इसी लिए स्थविर भगवान् ने कहा है—आत्मा ही संवर है और आत्मा ही संवर का अर्थ है ।

सारांश यह है कि आप जो कुछ भी करें, आत्मा के लिए ही करें । आत्मा को छोड़कर किसी के लिए कुछ मत करो । जो काम बदले की भावना से किया जाता है, वह आत्मा के लिए नहीं होता. जैसे पैसे लेने के लिए सामायिक करना । कोई पैसों के लिए नहीं सिर्फ मान-प्रतिष्ठा की चाहसे सामायिक करे तो वह

भी आत्मा के लिए नहीं है। कई अभव्य साधु भी क्रियाएँ भी करते हैं, लेकिन उनका उद्देश्य होता है मान-सम्मान आदि प्राप्त करना। इसलिए उनकी क्रिया लेखे में नहीं ली जाती। लालसा त्याग कर संवर करने की महत्ता दिखलाने के लिए ही कहा गया है कि—आत्मा ही संवर और संवर का अर्थ है। इस कथन में और भी कोई तत्त्व रहा होगा, जो ज्ञानी-गम्य है।

(क्रमशः)

शब्दार्थ-

प्रश्न—भगवन् ! क्या सातवां अवकाशान्तर भारी है, हल्का है, भारी हल्का है, या अगुरुलघु-न भारी न हल्का-है ?

उत्तर—गौतम ! वह भारी नहीं, हल्का नहीं, भारी-हल्का नहीं है किन्तु अगुरुलघु (हल्केपन और भारीपन से रहित) है।

प्रश्न—भगवन् ! क्या सातवां तनुवात भारी है, हल्का है, भारी हल्का (गुरुलघु) है या अगुरुलघु है ?

उत्तर—गौतम ! वह भारी नहीं है, हल्का नहीं है, गुरुलघु (भारी-हल्का) है, अगुरुलघु नहीं है। इसी प्रकार सातवां घनवात, सातवां घनोदधि, सातवीं पृथ्वी के विषय में कहना। सब अवकाशान्तर सातवें अवकाशान्तर के विषय में जैसा कहा वैसा ही जानना चाहिए, तनुवात के विषय में जैसा कहा, उसी प्रकार सभी घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र और क्षेत्रों के विषय में भी जानना।

व्याख्यान-

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है--प्रभो ! अवकाशान्तर हल्के हैं, भारी हैं, या हल्के-भारी हैं दोनों प्रकार के हैं या दोनों ही प्रकार के नहीं हैं ?

चौदह राजू लोक, जिन्हें चौदह तवक या चौदह भुवन कहते हैं, वह पुरुषाकार है । इन चौदह राजू वाले लोक में सारा संसार या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समागया है । लोक का विचार करते हुए शास्त्र में, नीचे की ओर सात नरक पृथ्वियां बतलाई गई हैं । उन सात नरक पृथ्वियों के बीच में, एक के बाद दूसरा इस क्रमसे सात आकाश हैं । वह आकाश ही सात अवकाशान्तर कहलाते हैं ।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है- हे गौतम ! अवकाशान्तर न भारी हैं, न हल्के हैं, न हल्के भारी हैं किन्तु अगुरुलघु हैं । उन्हें न तो हल्का कहा जा सकता है, न भारी कहा जा सकता है, न हल्का-भारी दोनों कहा जा सकता है । उनमें न हल्कापन है, न भारीपन है, अतएव उन्हें अगुरुलघु कह सकते हैं ।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने तनुवात के विषय में प्रश्न किया, कि तनुवात गुरु है, लघु है, गुरुलघु है या अगुरुलघु

है ? तब भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! तनुवात गुरुलघु (उभयरूप) हैं, अर्थात् इनमें तीसरा भंग पाया जाता है।

फिर गौतम स्वामी ने घनवात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर और वास क्षेत्र (भरत आदि क्षेत्र) के संबंध में इसी प्रकार के प्रश्न किये, जिनके उत्तर में भगवान् ने कहा—यह सब तनुवात की भांति है अर्थात् गुरुलघु हैं। तात्पर्य यह है कि अवकाशान्तर में चौथा भंग पाया जाता है (क्योंकि वह अमूर्त है) और शेष में सब तनुवात की तरह तीसरा भंग पाया जाता है। अर्थात् अवकाशान्तर के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह हलके हैं या भारी हैं, मगर तनुवात आदि हलके-भारी रूप दोनों अवस्था में है।

यहां तनुवात आदि को हलका-भारी उभय रूप बतलाया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि एक ही वस्तु हल्की और भारी—दोनों प्रकार की कैसे कही जा सकती है ? इस प्रश्न के समाधान में शास्त्र का कथन यह है कि कोई भी वस्तु एकान्त हल्की या एकान्त भारी नहीं है। भारीपन और हल्कापन सदैव सापेक्ष होता है। एक वस्तु में, किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा हल्कापन होता है और तीसरी वस्तु की अपेक्षा भारीपन होता है। आंवला बेल की अपेक्षा हल्का और बेर की अपेक्षा भारी है। अतएव निश्चय में कोई वस्तु न हल्की है न भारी है।

अतएव निश्चय में कोई वस्तु न हल्की है, न भारी है। इसी कारण तनुवात आदि को गुरुलघु यानी हल्का-भारी दोनों ही कहा है। जो वस्तु सापेक्ष है उसे सापेक्ष ही समझना और सापेक्ष ही कहना, यही स्याद्वाद है।

किसी चीज़ को हल्की कहने में भारी चीज़ की अपेक्षा रहती है और भारी कहने में हल्की चीज़ की अपेक्षा रहती है। व्यवहार में तो चारों ही भंग हैं परन्तु निश्चय में केवल दो ही भंग हैं, अर्थात् या तो पदार्थ गुरुलघु हैं या अगुरुलघु हैं। एकान्त गुरु या एकान्त लघु कोई चीज़ नहीं है।

व्यवहार में गुरु, लघु आदि किसे कहते हैं, यह भी समझने योग्य बात है। भारी वस्तु वह है जो पानी पर रखने से डूब जाती है और हल्की वह है जो ऊर्ध्वगामी हो अर्थात् ऊपर की ओर जाए, जैसे धुआं। तिरछी जाने वाली वस्तु गुरुलघु कहलाती है, जैसे वायु और अगुरुलघु वह है जिसमें रूप ही न हो, त्रिकाल में भी जिसमें परिवर्तन न हो। चौस्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु होते हैं और अरूपी द्रव्य भी अगुरु लघु ही होते हैं; किन्तु आठस्पर्शी पुद्गल गुरुलघु होते हैं। कहा है—

> णिच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं।
> ववहारओ, उ जुज्जइ, बायरखंधेसु णण्णेसु ॥

अगुरुलहू चउफासा, अरूविदव्वाय होंति नायव्वा ।
सेसाओ अट्ठफासा, गुरुलहुया निच्छयणायस्स ॥

अर्थात्—निश्चय नय की अपेक्षा कोई भी द्रव्य एकान्त भारी या एकान्त हल्का नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा बादर स्कंधों में भारीपन या हल्कापन होता है, अन्य किसी स्कंध में नहीं।

जो द्रव्य चार स्पर्श वाले या अरूपी होते हैं, वह सब अगुरुलघु होते हैं और आठ स्पर्श वाले जितने द्रव्य हैं। वह सब गुरुलघु होते हैं।

वास्तव में हल्कापन, भारीपन, छोटापन, बड़ापन और अच्छापन एवं बुरापन, यह सब सापेक्ष भाव हैं अर्थात् एक को दूसरे की अपेक्षा रहती है। जहां एक का बोध होगा, वहां दूसरे का भी बोध होगा। उदाहरणार्थ–कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य के एक लड़का है। उस लड़के को वह छोटा या बड़ा नहीं कह सकता। छोटा या बड़ा तब कहा जा सकता है, जब दो या अधिक लड़के हों। जब किसी लड़के के संबंध में यह कहा जा सकता है कि-'यह बड़ा लड़का है' तो इसका अर्थ यह है कि इससे छोटा दूसरा लड़का अवश्य है। इसी प्रकार 'छोटा लड़का' ऐसा कहने से बड़े लड़के का अनुमान होता

है। ठीक ऐसी ही बात हल्के-भारी के संबंध में है। बड़ा या छोटा किस तरह होता है, यह बात एक दृष्टान्त से समझाई जाती है।

एक जगह कुछ लड़के खेल रहे थे। उनमें वजीर का भी एक लड़का था। उसी ओर से बादशाह निकला। उसे मालूम हुआ कि इनमें वजीर का भी लड़का है। तब बादशाह ने सोचा हमारा वजीर बहुत होशियार है, देखना चाहिए कि उसके लड़के में भी कोई विशेषता ह या नहीं? यह सोचकर बादशाह ने अपने हाथ की लकड़ी से जमीन पर एक लकीर खींच दी। फिर सब लड़कों को बुलाकर कहा—'इस लकीर को बिना बिगाड़े या तोड़े ही छोटी कर दो।' सब लड़के अचरज में पड़ गये। कहने लगे--'यह कैसे हो सकता है?' मगर वजीर के लड़के ने आगे बढ़ कर कहा--'अगर हुक्म दें तो मैं इसे छोटी बना सकता हूँ।' बादशाह ने हुक्म दे दिया। वजीर के लड़के ने बादशाह के हाथ से उसकी छड़ी ली और एक लम्बी लकीर खींच दी। फिर बादशाह से कहा--'लीजिए, आप की लकीर छोटी हो गई।' बादशाह ने कहा--'मेरी लकीर तो ज्यों की त्यों है। वह कहाँ छोटी हुई है? वजीर का लड़का बोला—'किसी तीसरे से इस का फैसला करा लीजिए कि आप की लकीर छोटी है या नहीं?

तात्पर्य यह है कि अभी जो वस्तु बड़ी या भारी मालूम होती है, वही वस्तु दूसरी किसी अधिक भारी या बड़ी वस्तु

के मुकाबिले में छोटी या हल्की जान पड़ने लगती है। अतएव वजीर के लड़के की तरह छोटे-बड़े का विचार करना चाहिए। सदा स्मरण रखना कि बड़प्पन या छुटपन सापेक्ष है। बड़े का बड़प्पन, छोटे के अस्तित्व पर ही निर्भर है।

यह कहा जा सकता है कि हल्कापन और भारीपन, परस्प विरोधी धर्म हैं। दोनों एक साथ, एक ही वस्तु में कैसे र सकते हैं ? जो वस्तु हल्की होगी, वह भारी नहीं होगी और जे भारी होगी, वह हल्की नहीं होगी। फिर यहां एक वस्तु में दोनों का होना क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी वस्तु को एकान्त हल्का या भारी नहीं कह सकता। विना दूसरे की अपेक्षा यह सापेक्ष धर्म कहीं रह ही नहीं सकते। एक वस्तु में दोनों धर्मों का रहना अनुभव से सिद्ध है। जिस वस्तु में जिन धर्मों का रहना अनुभव से सिद्ध है, वहां विरोध के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती। उदाहरण के लिए-किसी आदमी को पिता कहा जायगा या पुत्र कहा जायगा ? अगर आपसे यह कहा जाय कि आप अपने को पिता या पुत्र में से एक ही कुछ कहिए, दोनों मत कहिए, तो आप क्या करेंगे ? अगर आप पिता हैं, तो भी क्या किसी के पुत्र नहीं है ? अगर आप पुत्र हैं तो क्या किसी के पिता नहीं हैं ? जो अपने को एकान्ततः पुत्र कहेगा वह अपने पुत्र का भी पुत्र हो जायगा। इसी प्रकार जो एकान्तत

पिता बनना चाहेगा वह अपने पिता का भी पिता हो जायगा ! मगर यह ठीक नहीं है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, और पुत्र की अपेक्षा पिता है। पितृपन और पुत्रपन परस्पर विरोधी मालूम होने वाले धर्म जैसे एक साथ रहते हैं, उसी प्रकार हल्कापन और भारीपन भी विरोधी मालूम होते हैं, पर विरोधी नहीं हैं और एक ही साथ, एक ही वस्तु में रहते हैं। इस प्रकार के वचन ज्ञानी पुरुषों के हैं। इन पर विचार करो तो प्रतीत होगा कि ज्ञानियों ने जनता के कल्याण के लिए कैसे वचन कहे हैं।

यहां तक गुरुलघु की बात हुई। अब अगुरुलघु के संबंध में विचार करना है। जो वस्तु देखी, सुनी, चखी, छुई न जा सके अर्थात् जो अरूपी हो, उसे अगुरुलघु कहते हैं। ऐसी वस्तुएँ हैं अवश्य, मगर वह इन्द्रियगम्य नहीं है।

अगर कोई वस्तु देखी, सुनी या छुई नहीं जा सकती अर्थात् इन्द्रियगम्य नहीं है तो उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यह है कि अगर ऐसी चीज की सत्ता न मानी जाय तो संसार सर्वथा जड़ हो जायगा। ऐसी वस्तु है, यह बात आप अपने अनुभव से जान सकते हैं, मगर वह इन्द्रियों से जानी जा सकती। आत्मा में ज्ञान है, यह बात सभी जानते और मानते हैं। लेकिन ज्ञान देखा, सुना या स्पर्श किया जा सकता है ? थोड़ी देर के लिए ज्ञान को भी जाने दीजिए। आप पढ़े-

लिखे हैं, यह तो आपको मालूम है, लेकिन आप के मगज की विद्या क्या देखी जा सकती है ? स्पर्श की जा सकती है ? सूंघी जा सकती है ? सुनी जा सकती है ? चखी जा सकती है वह विद्या हाथ से पकड़ी नहीं जा सकती। किसी भी अन्य इन्द्रिय से गम्य नहीं है। यह निर्विवाद है कि मगज में विद्या है, फिर भी वह इन्द्रियगोचर नहीं होती।

इल्म मगज में है, यह तो आप जानते हैं, पर साथ ही यह भी जानना चाहिए कि वह इल्म किस की विद्यमानता में रह सकता है ? आप किसी समय यह कहते होंगे कि अभी मेरा दिमाग ठीक नहीं है। मुझे यह बात मालूम है, पर अभी कुछ जँचता नहीं है। आप इस बात पर विचार कीजिए कि यह कहने वाला कौन है ? विद्या किस की मौजूदगी रहते काम करती है ? और आप जो कुछ कहते हैं, वह किस की बदौलत ? जिसकी मौजूदगी में दिमाग काम करता है, जिसके चलते विद्या है, और जो कहता है कि मेरा दिमाग अभी ठीक नहीं है, उस वस्तु का नाम आत्मा, ब्रह्म, चिदानन्द या रूह है।

आत्मा के अतिरिक्त और भी पदार्थ ऐसे हैं, जिनकी सत्ता तो है, मगर गुरुलघु हैं, जैसे आकाश। आप जब किसी ऊँचे मकान पर चढ़ कर दूरी पर देखते होंगे तो आपको मालूम होता होगा कि यहां से कुछ दूरी आकाश और पृथ्वी का मिलान

हो गया है। लेकिन क्या वास्तव में ही पृथ्वी और आकाश मिल गये हैं ? अथवा यह आपका भ्रम ही है ? मेरे पिताजी का जब देहान्त हुआ, तब मैं बच्चा था। मैं आकाश और पृथ्वी को मिला हुआ समझ कर यह सोचता था कि मेरा पिता इसी में गया है। मुझसे इतना चला नहीं जाता। अन्यथा मैं भी वहां जाकर उसमें घूस जाता और अपने पिताजी से मिल लेता। लेकिन यह मेरा भ्रम ही था। आकाश रूपी पदार्थ नहीं है। वह अरूपी पोल है। उस पोल में उड़ते हुए पुद्गल दीखते हैं, मगर आकाश तो वस्तुतः पोल ही है।

इन्हीं सब कारणों से शास्त्रकारों ने पदार्थों को दो भागों में बाँटा है। प्रथम वह, जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जा सकें। वह न एकान्त भारी हैं, न एकान्त हल्के हैं, किन्तु गुरुलघु हैं। जिन चीजों को इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं, वह अविनाशी होने के साथ ही, न हल्की होती है और न भारी होती है। और जो चीज हल्की और भारी नहीं होती, उसमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है।

यह बात सभी को विदित है कि छोटे मामले में छोटा विचार होता है और बड़े मामले में बड़ा विचार करना पड़ता है। इसके सिवा सिद्धान्त एक देशीय नहीं होना चाहिए। जो सिद्धान्त केवल मनुष्य का ही विचार करे वह पूर्ण सिद्धान्त नहीं है।

पूर्ण सिद्धान्त वही कहला सकता है, जिसमें प्राणी मात्र का समान रूप से विचार किया गया हो। और जो सिद्धान्त ऐसे होते हैं, वही पूर्ण पुरुष के कहे हुए होते हैं। यह बात इतनी न्यायसंगत और स्पष्ट है कि जो कोई तटस्थ व्यक्ति इस पर विचार करेगा उसे सहमत ही होना पड़ेगा।

चौदह राजूलोक में सब से नीचे रहने वाले नरक के प्राणियों का अन्य लोग निराली रीति से वर्णन करते हैं। अतएव गौतम स्वामी, भगवान् महावीर प्रभु से इस सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! किं गरुया, जाव अगुरुलहुया ?

उत्तर—गोयमा ! णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया वि, अगुरुलहुया वि।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा विउव्विय-तेयाइं पडुच्च णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया, णो

अगरुलहुया । जीवं च कम्मं च पडुच्च णो गुरुया, णो लहुया, णो गुरुलहुया, अगरुलहुया । से तेणट्ठेणं, एवं जाव—वेमाणिया । णवरं, णाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं । धम्मत्थिकाए, जाव जीवात्थिकाए चउत्थपएणं ।

प्रश्न—पोग्गलात्थिकाए णं भंते ! किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगुरुयलहुए ?

उत्तर—गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, गरुयलहुए वि, अगुरुलहुए वि ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! गरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च णो गरुए, णो लहुए, गरुयलहुए, णो अगुरुलहुए । अगुरुलहुयदव्वाइं पडुच्च णो गरुए, णो लहुए, णो गुरुलहुए, अगुरुलहुए । समया, कम्माणि य चउत्थपएणं ।

प्रश्न--कण्हलेस्सा णं भंते ! किं गरुया, जाव-अगरुयलहुया ?

उत्तर--गोयमा ! णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया, वि, अगुरुलहुया वि ।

प्रश्न--से केणट्ठेणं ?

उत्तर--गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च ततिय-पएणं, भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपदेणं, एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

दिट्ठी-दंसण-णाण-अण्णाण-सन्नाओ चउ-त्थपदेणं णेयव्वाओ । हेट्ठिल्ला चत्तारि सरीरा णेयव्वा ततिएणं पदेणं । कम्मया चउत्थएणं पदेणं । मणजोगो, वइजोगो चउत्थएणं पदेणं, कायजोगो ततिएणं पदेणं । सागारोवओगो, अणागारोवओगो चउत्थपदेणं । सव्वदव्वा, सव्वपएसा, सवपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ ।

तीयद्धा, अणागयद्धा, सव्वद्धा चउत्थएणं पदेणं ।

संस्कृत-छाया:-

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! किं गुरुका यावत् अगुरुलघुकाः ?

उत्तर—गौतम ! नो गुरुकाः, नो लघुकाः गुरुलघुकाअपि, अगुरुलघुकाअपि ।

प्रश्न—तत् के नार्थेन् ?

उत्तर—गौतम ! वैक्रिय--तैजसानि प्रतीत्य नो गुरुकाः, नो लघुकाः, गुरुलघुकाः, नो अगुरुलघुकाः, जीवं च कार्मणं च प्रतीत्य नो गुरुकाः, नो लघुकाः, नो गुरुलघुकाः, अगुरुलघुकाः । तत् केनार्थेन, एवं यावद् वैमानिकाः । नवरम्--नानात्वं ज्ञातव्यं शरीरैः । धर्मास्तिकायो यावत् जीवास्तिकायः चतुर्थपदेन ।

प्रश्न—पुद्गलास्तिकायो भगवन् ! किं गुरुकः लघुकः गुरुलघुकः, अगुरुलघुकः ?

उत्तर—गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुकलघुकोऽपि, अगुरुलघुकोऽपि ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! गुरुकलघुकद्रव्याणि प्रतीत्य नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुकलघुकः, नो अगुरुलघुकः ! अगुरुलघुकद्रव्याणि प्रतीत्य नो गुरुकः, नो लघुकः नो गुरुलघुकः, अगुरुलघुकः । समयः कर्माणि च चतुर्थपदेन ।

प्रश्न—कृष्णलेश्या भगवन् ! किं गुरुका, यावत् अगुरुलघुका

उत्तर—गौतम ! नो गुरुका, नो लघुका, गुरुकलघुका अपि अगुरुलघुकाऽपि ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्यलेश्यां प्रतीत्य तृतीयपदेन, भाव लेश्यां प्रतीत्य चतुर्थपदेन, एवं यावत् शुक्ल लेश्या ।

दृष्टि-दर्शन-ज्ञान-अज्ञान-संज्ञाश्चतुर्थपदेन ने तव्याः, अधस्तनानि च त्वारि शरीराणि ज्ञातव्यानि तृतीयपदेन । कार्मणं चतुर्थकेन पदेन । मनोयोगः, वचोयोगश्चतुर्थकेन पदेन, काययोगस्तृतीयेन पदेन, साकारोपयोगः, अनाकारोपयोगश्चतुर्थपदेन, सर्वद्रव्याणि, सर्वप्रदेशाः, सर्वपर्यवाः यथा पुद्गलास्तिकायः । अतीताद्धा, अनागताद्धा, सर्वाद्धा चतुर्थेन पदेन ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! क्या नारकी जीव भारी हैं, यावत् अगुरुलघु हैं ?

उत्तर—गौतम ! भारी नहीं हैं, लघु नहीं हैं, गुरुलघु हैं और अगुरुलघु भी हैं।

प्रश्न—भगवन् ! इस का क्या कारण है ?

उत्तर—गौतम ! नारकी जीव, वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा गुरु नहीं हैं, लघु नहीं हैं, अगुरुलघु नहीं हैं, गुरुलघु हैं। और जीव तथा कर्म की अपेक्षा गुरु नहीं हैं, लघु नहीं हैं, गुरुलघु नहीं हैं, अगुलरुघु हैं। हे गौतम ! इसलिए पूर्वोक्त कथन किया है। और इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए। विशेष यह है कि शरीरों में भिन्नता है। तथा धर्मास्तिकाय यावत् जीवास्तिकाय चौथे पदसे जानना अर्थात् अगुरुलघु समझना।

प्रश्न—भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है, लघु है, गुरुलघु है, या अगुरुलघु है ?

उत्तर—गौतम ! पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु भी है और अगुरुलघु भी है।

प्रश्न--भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

उत्तर--गौतम ! गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा गुरु नहीं है, लघु नहीं है, अगुरुलघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है। और अगुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा गुरु नहीं है, लघु नहीं है, गुरुलघु नहीं है किन्तु अगुरुलघु है। समय और कर्म चौथे पद से जानना अर्थात् वह अगुरुलघु हैं।

प्रश्न—भगवन् ! कृष्णलेश्या गुरु है, अथवा यावत् अगुरुलघु है ?

उत्तर—गौतम ! वह गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

प्रश्न—भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा तीसरे पद से जानना अर्थात् द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से कृष्णलेश्या गुरुलघु है। भावलेश्या की अपेक्षा से चौथे पद से जानना अर्थात् भावलेश्या की अपेक्षा कृष्णलेश्या अगुरुलघु है। इसी प्रकार शुक्ल लेश्या तक जानना।

तथा दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान, और संज्ञा को चौथे पद से-अगुरुलघु जानना। पहले के चार शरीर

तीसरे पद से-गुरुलघु जानना। कार्मण शरीर को चौथे पद से-अगुरुलघु जानना। मनोयोग-मन, वचनयोग-शब्द साकार उपयोग और निराकार उपयोग, यह सब चौथे पद से-अगुरुलघु जानना। तथा काययोग-शरीर को तीसरे पद से गुरुलघु समझना। सर्व द्रव्य, सर्व प्रदेश और सर्व पर्याय, पुद्गलास्तिकाय के समान जानना। अतीतकाल, अनागत (भविष्य) काल, और सर्वकाल चौथे पद से अर्थात् अगुरुलघु जानना।

व्याख्यान-

अठारह पापों का विचार करते हुए हल्के-भारी का जो विचार किया जाता है, वह तात्त्विक दृष्टि से किया गया है और यह बतलाया गया है कि अठारह पापों से जीव भारी होता है और पापों को त्यागने से हल्का होता है। उसमें वस्तु का विचार नहीं वरन् उपाधि के संबंध में ही विचार किया गया है। असल में जीव हल्का है, फिर भी उपाधि के कारण वह किस प्रकार भारी हो जाता है और उपाधि से छूटने पर किस प्रकार हल्का हो सकता है, इस बात का वहां दिग्दर्शन कराया गया है। यदि जीव भारी ही रहता हो-उसकी असलियत भारीपन ही होती, तो जीव हल्का हो ही नहीं सकता था। मगर उसकी असलियत

भारीपन की नहीं है, हल्केपन की है। इसी कारण उपाधि से भारी हो जाने पर भी जब वह उपाधि से छूटता है, तब हल्का हो जाता है। गीता में भी कहा है:-

नासतो विधते भावो नाभावो जायते सतः।

जो है, वह नाश नहीं हो सकता और जो नहीं है वह हो नहीं सकता। इस प्रकार जीव अगर भारी ही हो या केवल हल्का ही होता, तब तो यह प्रश्न करने की आवश्यकता ही न होती। लेकिन जीव असल में न तो हल्का है न भारी है; पर पाप से उसी प्रकार भारी हो जाता है, जिस प्रकार तूंबे की असलियत डूबने की न होने पर भी मिट्टी के लेप से भारी होकर वह डूब जाता है। उसका डूबना उपाधि के कारण ही होता है।

मतलब यह है कि पाप से भारी होने का जो वर्णन किया गया है, वह उपाधि की अपेक्षा से है। अब वस्तु की अपेक्षा से भारी हल्के का विचार किया जाता है। संसार की कौन-सी वस्तु भारी है और कौन-सी हल्की है? इस विषय में गौतम स्वामी के प्रश्नों का भगवान् उत्तर देते हैं। संसार का कोई भी पदार्थ न एकान्त हल्का है, न भारी है, किन्तु हल्का-भारी (गुरुलघु) है। संसार की चीज का हल्कापन और भारीपन अपेक्षा से है। इस कारण हरेक चीज किसी अपेक्षा से हल्की और किसी अपेक्षा से भारी है। साथ ही कोई-कोई चीज ऐसी भी है जो

न हल्की है, न भारी है। जिस चीज को इन्द्रियां ग्रहण कर सकती हैं वह किसी अपेक्षा से हल्की और किसी अपेक्षा से भारी है। इसके विपरीत, जिसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती वह चीज है तो अवश्य, लेकिन अरूपी तथा अविनाशी है और वह न हल्की है, न भारी ही है।

गौतम स्वामी ने नरक के जीवों के सम्बन्ध में प्रश्न किया है-नारकी जीव कैसे हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया-हे गौतम ! कोई चीज केवल हल्की या भारी तो हो ही नहीं सकती। अतएव नरक के जीव हल्के और भारी दोनों ही हैं अर्थात् गुरुलघु हैं और साथ ही अगुरुलघु (न हल्के न भारी) भी हैं।

परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में विरोध को हटाकर संबंध स्थापित कर देना-उनके विरोध को हटा देना ही स्याद्वाद का कार्य है। जिस प्रकार शरीर में प्राण हैं उसी प्रकार जैन सिद्धान्त में स्याद्वाद है। अगर जैन सिद्धान्त से स्याद्वाद हटा दिया जाय तो उसमें क्या बचेगा ? वह प्राणहीन शरीर के समान हो जायगा। अन्य दार्शनिक एकान्तवाद का आश्रय लेकर अपूर्ण वस्तु स्वरूप प्रकट करते हैं और इसी कारण परस्पर विरोध और वैमनस्य का भाव जागता है। जैन सिद्धान्त कहता है कि समग्र वस्तु-स्वरूप का अवलोकन करो। वह अनेकान्त दृष्टि से ही संभव है। ऐसा करने से जटिल से जटिल प्रश्न भी सहज ही हल हो जाते हैं।

जैसे शरीर का कोई भी अंग प्राण से खाली नहीं है। इसी प्रकार कोई भी जैन-सिद्धान्त अनेकान्तदृष्टि से खाली नहीं है। इसीलिए भगवान् ने कहा है-नरक के जीव किसी अपेक्षा से हल्के-भारी अर्थात् गुरुलघु हैं और किसी अपेक्षा से अगुरुलघु हैं अर्थात् न भारी हैं न हल्के हैं; क्यों कि नरक के जीव शरीर-सहित आत्मा रूप हैं।

हम अपने आपको देखें तो भी यही मालूम होगा कि हम शरीररूप और आत्मारूप-दोनों रूप हैं। हमारे भीतर न केवल शरीर है, न केवल आत्मा ही है, किन्तु शरीरधारी आत्मा है। इसी प्रकार नरक के जीव भी देहधारी आत्मा हैं। नारकी जीव, न केवल आत्मा का ही नाम है, न केवल कलेवर का ही। वह भी कलेवर और आत्मा-दोनों के संयोग वाले जीव हैं। इसी कारण भगवान् कहते हैं—हे गौतम! नरक के जीव न तो हल्के हैं, न भारी हैं, किन्तु हल्के-भारी दोनों ही हैं और साथ ही हल्के-भारी नहीं (अगुरुलघु) भी हैं।

भगवान्! ने ऐसा क्यों कहा है? इसका कारण यह है कि संसार में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। किसी ने निश्चय को पकड़ कर व्यवहार को उठा दिया है और किसी ने व्यवहार को पकड़ कर निश्चय को छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ-नास्तिकों का कहना है कि यह शरीर पाँच भूतों का पुतला है, जो सब

भूतों के संयोग से बोलता चलता है और जब भूत बिखर जाते हैं तब यह कुछ भी नहीं रहता। जैसे घड़ी के पुर्जे आपस में मिलकर घड़ी रूप में परिणत हो जाते हैं और घड़ी चलने लगती है। जब पुर्जे बिखर जाते हैं तब घड़ी बन्द हो जाती है। इसी तरह पाँच भूतों के संयोग से बना हुआ यह पुतला, जब तक पंच भूत मिले हुए हैं, तब तक बोलता-चालता है और जब जब पंच भूत बिखर जाते हैं तब पुतला बोलना-चालना छोड़ देता है यानी मर जाता है। यह गलत है कि इस में अलग कोई आत्मा है और वह परलोक से आता या परलोक को चला जाता है।

इस प्रकार कहने वाले नास्तिक उस वस्तु को नहीं मानते, जो इन्द्रियों द्वारा देखी, सुनी, चखी, सूंघी या पकड़ी न जा सके। मतलब यह है कि नास्तिक लोग सिर्फ जड़ को मानते हैं। उनके लिए चैतन्य कोई वस्तु नहीं है।

इसके विरुद्ध ब्रह्मवादियों का कथन है कि—'एकं ब्रह्म, द्वितीयो नास्ति।' अर्थात् जो कुछ है, ब्रह्म ही है। ब्रह्म को छोड़कर और कुछ नहीं है। अगर उनसे पूछा जाय कि यह सब दिखाई दे रहा है सो क्या है? तब उत्तर मिलता है-यह सब तो इसी तरह का भ्रम है, जैसे अंधकार में रस्सी का टुकड़ा सांप जान पड़ता है। इस प्रकार वह जड़ को स्वीकार न करके, केवल चेतन्य को ही स्वीकार करते हैं।

ऐसी विरोधी मान्यताएँ देखकर जैन सिद्धान्त कहता है—आपस में लड़ते क्यों हो ? संसार में जड़ भी है और चैतन्य भी है। न केवल जड़ है, न सिर्फ चेतन है। यह संसार जड़ और चेतन के संयोग से बना है। कोई भी स्थान जड़ और चेतन से खाली नहीं है। नरक के जीव भी जड़—चेतन रूप हैं।

नास्तिक लोग जीव को घड़ी के समान कहकर भूल करते हैं। उनके प्रति हमारा कहना यह है कि हम घड़ी या उसके खटके को चेतन नहीं कहते। यह देखो कि घड़ी को बनाने वाला और उसे चलाने वाला कौन है ? घड़ी आप ही नहीं बन गई है। उसे किसी ने बनाया है, तभी वह बनी है। घड़ी जब बंद हो जाती है तब चेतन ही उसे चलाता है। चेतन न होता, तो घड़ी बनती कैसे और उसे घड़ी कहता कौन ? इस प्रकार केवल जड़ ही नहीं, किन्तु चेतन भी है। इस शरीर में पंच भूत नहीं हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता, जैसे घड़ी में पुर्जे हैं, उसी तरह शरीर में पंच भूत भी हैं, लेकिन शरीर जो कुछ करता है वह चिदानन्द के ही प्रताप से करता है। अतएव शरीर में चिदानन्द भी अवश्य है। चिदानन्द न होता तो आंख, नाक कान आदि कौन बनाता ? एक बिगडी हुई आंख बनाने वाला डाक्टर भी होशियार माना जाता है, तो फिर जिसने आंख, कान

आदि बनाये उसका अस्तित्व ही न हो; यह कैसे माना जा सकता है ? इसके सिवाय 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार कह कर आत्मा का निषेध करने वाला कौन है ? जो आत्मा का निषेध करता है, वही आत्मा है। इतनी नजदीकी होने पर भी नास्तिक लोग आत्मा को नहीं जान पाते, यह एक आश्चर्य की बात है।

अब ब्रह्मवादियों की बात पर विचार कीजिए। ब्रह्मवादी कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और जो कुछ दीख पड़ता है वह सब भ्रम मात्र है। जैसे अंधेरे में, रस्सी देखकर साँप का भ्रम होता है, उसी तरह यह भी सब भ्रम है। इसका उत्तर यह है कि रस्सी में साँप का भ्रम होता है सो तो ठीक, मगर दुनिया में कहीं रस्सी और साँप दोनों हैं, तभी उन में भ्रम होता है। अगर साँप ही न होता तो भ्रम कैसे होता ? इसी प्रकार हमें जड़ का जो भ्रम होता है, वह जड़ के हुए बिना नहीं हो सकता। यह हम भी स्वीकार करते हैं कि जड़ पदार्थ, आत्मा के लिए उपाधि हो रहा है और इस उपाधि से मुक्त होने पर परमब्रह्म, परमात्मा बन जाता है। मगर जगत् में जड़ का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। अतएव जैसे जड़ का ही अस्तित्व मानकर चेतन की सत्ता से इन्कार करना ठीक नहीं है, उसी प्रकार चेतन ही मानना और जड़ की सत्ता को स्वीकार न करना भी ठीक नहीं है। दोनों का अस्तित्व

अनुभव में आ रहा है, अतएव दोनों को स्वीकार करना ही उचित और सत्य है।

भगवान कहते हैं—हे गौतम ! संसार में न केवल देह है, न केवल आत्मा ही है। देह और आत्मा दोनों हैं। तूने नरक के जीवों के विषय में प्रश्न किया सो उसका उत्तर यह है कि नरक के जीव हल्के-भारी (गुरुलघु) भी हैं हल्के-भारी नहीं (अगुरुलघु) भी हैं।

नरक के जीवों के तीन शरीर होते हैं—(१) तैजस (२) कार्मण और (३) वैक्रिय। तैजस और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा नरक के जीव गुरुलघु होते हैं और कार्मण शरीर की अपेक्षा न हल्के होते हैं, न भारी ही। तैजस और वैक्रिय शरीर किसी का छोटा होता है और किसी का बड़ा होता है। इस कारण एक की अपेक्षा दूसरा हल्का होता है, एक की अपेक्षा दूसरा भारी होता है।

जीव के अच्छे-बुरे कामों के संस्कार जिसमें एकत्रित होते हैं, वह कार्मण शरीर कहलाता है। इसे सूक्ष्मशरीर या लिंग-शरीर भी कहते हैं। इस में अच्छे या बुरे कामों के संस्कार इकट्ठे होते रहते हैं। कहा जाता है कि जीव के साथ पुण्य-पाप जाता है। पुण्य और पाप वास्तव में जाता है जीव के साथ ही, मगर कार्मण शरीर के द्वारा। कार्मण शरीर में पुण्य-पाप के सब संस्कार मौजूद रहते हैं और वह शरीर परलोक में जीव

के साथ जाता है। उदाहरण के लिए बड़ के वृक्ष को देखिये। वट का बीज दीखने में छोटा-सा दिखाई देता है, पर उस के भीतर वट का पूरा वृक्ष विद्यमान रहता है। अब कोई कहे कि इस बीज में बड़ का वृक्ष कहाँ है? दिखलाई क्यों नहीं देता? उसमें वृक्ष देखने के लिए वह उसे कितना ही तोड़े-फोड़े, फिर भी वह उसमें दिखाई नहीं पड़ेगा। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि जहाँ तुझे कुछ भी नजर नहीं आता वहीं विशाल वट वृक्ष विद्यमान है जो मिट्टी और पानी का संयोग पाकर नज़र आने लगता है जैसे फोटो छोटा होता है पर उसका विस्तार करने पर वह बड़ा हो जाता है, उसी तरह कुदरत ने बड़ के वृक्ष का फोटो उसके बीज में उतार दिया है और इस कारण बड़ का वृक्ष नष्ट होजाने पर भी जो बीज रह जाता है, उससे फिर वृक्ष तैयार हो जाता है। इसी तरह जीव के पुण्य-पाप का फोटो कार्मण शरीर में रह जाता है, जिन्हें परलोक में जाकर जीव भोगता है।

यहां कोई कह सकता है कि अगर पूर्व भव में किये हुए पुण्य और पाप का फल भोगना ही पड़ता है, तो फिर इस जन्म में सत्कार्य करने से क्या लाभ है? मगर यह कथन विचारपूर्ण नहीं है। क्योंकि प्रथम तो जो जीव पुण्य-पाप करता है, वह उनमें परिवर्तन भी कर सकता है। जैसे खट्टे आम का वृक्ष, मीठे आम का वृक्ष बनाया जा सकता है, इसी

प्रकार पुण्य को पाप में परिणत किया जा सकता है। जैसे कच्चा आम खट्टा होता है और पकने पर वही मीठा हो जाता है और सड़ जाने पर खराब हो जाता है, उसी प्रकार पाप को पुण्य में भी परिणत किया जा सकता है और पुण्य को पाप रूप में पलटा जा सकता है। कार्मण शरीर में पुण्य-पाप का संस्कार अवश्य पड़ता है, फिर भी, जो पाप किया है उसमें पुण्यरूप परिणत होने की योग्यता मौजूद है। यही बात पुण्य के विषय में है। इसलिए घबराने की आवश्यकता नहीं है। परदेशी राजाने ऐसे कर्म किये थे कि उसे बहुत काल तक नरक भोगना पड़ता, मगर केशी श्रमण की कृपा से उसके पाप-कर्म मिट गये और उसे स्वर्ग मिला। गीता में कहा है:—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

गीता, अ. ९-श्लो. ३०

अर्थात्-कोई बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे (परमात्मा को) अनन्यभाव से भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए; क्यों कि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा है।

साधु होने पर भी निश्चिन्त नहीं होना चाहिए। साधु होने मात्र से ही कोई पापों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता। मनुष्य अनादिकाल के संस्कारों के कारण साधु होकर भी गिर जाता है।

भगवती सूत्र में कहा है कि चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के धनी भी जब गिरे तब सातवें नरक में गये। इस सम्बन्ध में कुंडरीक, पुंडरीक, के उदाहरण मौजूद हैं। कुंडरीक ने हजार वर्षों तक तप किया था, फिर भी वह गिर गया और राज्य करने चला गया। वह सिर्फ तीन दिन तक राज्य कर सका। इन तीनों दिनों में ही सारे पुण्य का क्षय करके नरक गया। इस प्रकार साधु होने पर भ्रष्ट हो जाने की संभावना रहती है। अतएव साधुओं को निश्चिन्त न होकर सदा सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न होता है-क्या पुण्य को पाप रूप में और पाप को पुण्य रूप में परिवर्तित करना अपने हाथ की बात है? इसका उत्तर है--हाँ, यह अपने हाथ की बात है। अगर हम स्वयं अपने पुण्य-पाप परिवर्तन न करें तो साक्षात् ईश्वर भी हमारे लिए कुछ नहीं कर सकता। रावण को राम मिल गये थे और गोपालक को भगवान् महावीर का संयोग प्राप्त हो गया था। फिर भी वे सुधरे नहीं। वास्तव में जीव अगर सुधरता है, तो अपने ही कर्त्तव्य से और बिगड़ता है तो भी अपने ही कर्त्तव्य से। दूसरा, दूसरे का कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकता।

जीव सुधरता है अपने कर्त्तव्य से, तथापि उसके सुधार में सहायक निमित्त की आवश्यकता होती है। इसलिए परमात्मा की प्रार्थना, स्तुति, गुरु की विनय-भक्ति आदि की आवश्यकता

है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आपके कुछ किये बिना ही ईश्वर आपके लिए कुछ करता है। उदाहरण के लिए आप स्वयं पढ़ते-लिखते हैं, मगर प्रकाश की सहायता जरूरी होती है। आपके पढ़ने-लिखने में प्रकाश भी निमित्त रूप से सहायक होता है। इसी प्रकार कर्म तो आप करेंगे मगर निमित्त रूप में परमात्मा की सहायता भी आवश्यक है।

इस सब कथन का सार यह है कि देह और आत्मा-दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। अगर आप इस सत्य को समझ गये हों तो विचार कीजिए कि आप इस देह के लिए ही कर्त्ता रहोगे या आत्मा के लिए भी कर्त्ता बनोगे? केवल गहनों कपड़ों आदि में ही उलझे रहोगे या आत्मा के कल्याण के काम के विषय में भी विचार करोगे? आप को आत्मा की भी कुछ फिक्र करनी चाहिए? आप कह सकते हैं कि हमें अगर आत्मा की चिन्ता न होती तो यहाँ आते ही क्यों? मगर केवल यहाँ आने से ही कुछ न होगा। पाप को मिटाने से ही आत्मा का कल्याण होगा। यहाँ आने पर भी क्या बुरा विचार नहीं आ सकता? यहाँ आ करके भी अगर आपके अन्तःकरण में अपूर्व आध्यात्मिक विचारों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने देह और आत्मा का भिन्न-भिन्न तत्त्व प्रकट करते हुए कहा कि

नारकी जीव शरीर की अपेक्षा हल्के भारी होते हैं अर्थात् उनमें गुरुलघु पर्याय है और आत्मा की अपेक्षा हल्के-भारी नहीं हैं अर्थात् अगुरुलघु पर्याय हैं।

इसके आगे गौतम स्वामी ने चौवीसों दण्डकों के जीवों के संबंध में यही प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर में फर्माया— हे गौतम! नरक के जीवों की तरह सभी जीवों के संबंध में यही बात समझ लेनी चाहिए अर्थात् सभी जीव गुरुलघु और अगुरुलघु रूप हैं।

कुछ मनुष्यों की दो आंखें देखकर जाना जा सकता है कि सब मनुष्यों के दो ही आंखें होती हैं। एक मनुष्य को देखकर अनेक मनुष्यों के विषय में यह जाना जा सकता है कि सब मनुष्य इसी प्रकार के हैं। भगवान् ने नरक के जीवों के विषय में हल्के-भारीपन का विचार करके दूसरे जीवों के विषय में 'अतिदेश' किया है। एक के विषय में कहकर अनेक का बोध करना ही अतिदेश कहलाता है। जैसे--एक रुपया दिखला कर यह कहना कि सब रुपये ऐसे होते हैं या जैसा यह है वैसे ही अन्य रुपये होते हैं, यह अतिदेश वाक्य कहलाता है। भगवान् ने नरक के जीवों का वर्णन करके शेष सब जीवों के विषय में यही बात कही है। यों तो कहाँ नरक के जीव और कहाँ वैमानिक एवं ज्योतिष्क

देव ! परन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा भेदभाव नहीं रखते ज्ञानी मूल तत्त्व का विचार करते हैं और मूल तत्त्व का विचार करने पर ऐसी भिन्नता नहीं रह जाती, सभी जीव समान प्रतीत होते हैं। इसी कारण भगवान् ने नरक के जीवों का एक, स्थावर जीवों के पाँच, दो इन्द्रिय का एक, ते-इन्द्रिय का एक, चौ-इन्द्रिय का एक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक, मनुष्य का एक, भवनवासियों के दस, वाणव्यन्तर का एक, ज्योतिषी देवों का एक, और वैमानिक देवों का एक, इस प्रकार चौवीसों दण्डकों के जीवों के विषय में एक समान बात कही है । वह यह कि सभी जीव देह की अपेक्षा गुरुलघु और कार्मण शरीर एवं आत्मा की अपेक्षा अगुरुलघु हैं ।

जिस प्रकार नरक के जीव न केवल शरीर की अपेक्षा कहे जाते हैं । न केवल जीव की अपेक्षा ही, किन्तु शरीर और जीव दोनों की अपेक्षा से उनका वर्णन किया गया है, उसी प्रकार विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, और भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक आदि जीवों का भी शरीर और आत्मा की अपेक्षासे वर्णन किया जाता है । जो जीव शरीररहित हैं, और वे परमब्रह्म रूप हैं और उनकी बात निराली ही है, वे न हल्के हैं, न भारी हैं । वे अगुरुलघु पर्याय से युक्त हैं ।

परम्परागत धारणा से एक भेद और भी है । नारकी आदि जीवों के तैजस, वैक्रिय और कार्मण–यह तीन शरीर

हैं, किन्तु स्थावर जीव के वैक्रिय शरीर नहीं होता, वरन् औदारिक शरीर होता है। हां स्थावरों में भी वायुकाय के जीवों के चार शरीर होते हैं अर्थात् इनमें एक वैक्रिय शरीर अन्य स्थावरों की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार वायुकायिक जीवों के औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण-चार शरीर होते हैं और विकलेन्द्रिय के औदारिक, तैजस तथा कार्मण, यह तीन ही शरीर होते हैं। विकलेन्द्रिय के वैक्रिय शरीर नहीं होता। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर होते हैं (वैक्रिय शरीर किसी-किसी को प्राप्त हो सकता है-सब को सदा प्राप्त नहीं रहता) पंचेन्द्रिय मनुष्य के तीन शरीर तो होते ही हैं, वैक्रिय और आहारक शरीर भी हो सकता है। मनुष्यों को आहारक शरीर भी प्राप्त हो सकता है और लब्धि के निमित्त से वैक्रिय शरीर भी हो सकता है। देवों में, नारकी जीवों के समान, वैक्रिय, तैजस, और कार्मण, यह तीन शरीर होते हैं। इस प्रकार शरीरों में विभिन्नता होने पर भी गुरु-लघु के प्रश्न में सब जीव दो ही विभागों में समा जाते हैं। केवल हल्की या केवल भारी तो कोई चीज है ही नहीं, और कार्मण शरीर को छोड़कर शेष चार शरीरों की अपेक्षा चौवीस दंडकों के सभी जीव गुरुलघु हैं और जीव तथा कार्मण शरीर की अपेक्षा सभी जीव अगुरुलघु हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय, यह चार द्रव्य हल्के हैं या भारी हैं, या हल्के भारी हैं या हल्के भी नहीं और भारी भी नहीं हैं ?

संसार में धर्मास्तिकाय नामक एक पदार्थ है, जो चलने में सहायता देता है। अर्थात् गति सहायक द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहते हैं। गौतम स्वामी ने उसके विषय में, प्रश्न किया। साथ ही स्थिति-सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय के विषय में अवगाहना के कारणभूत आकाशास्तिकाय के विषय में और जीवास्तिकाय के विषय में भी पूछा कि यह चारों पदार्थ गुरु हैं, लघु हैं, गुरुलघु हैं या अगुरुलघु हैं ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं-हे गौतम ! उक्त चारों पदार्थ न गुरु हैं, न लघु हैं और न गुरुलघु हैं, बल्कि अगुरुलघु हैं। यह चारों पदार्थ अरूपी हैं, इनमें गुरुता-लघुता नहीं है। जीव द्रव्य भी यद्यपि स्वरूपतः अरूपी है, किन्तु शरीर सहित जीव रूपी है और इसी कारण उसे गुरुलघु कहा गया है। सिद्ध जीव, जिनके शरीर नहीं है, अरूपी होने के कारण अगुरुलघु ही हैं।

फिर गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—प्रभो ! पुद्गलास्तिकाय गुरु है लघु है गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ? भगवान ने

उत्तर दिया--गौतम ! पुद्गलास्तिकाय गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है। स्थूल पुद्गल गुरुलघु हैं और सूक्ष्म पुद्गल अगुरुलघु रूप है।

पदार्थ अपने प्रतिपक्षी की अपेक्षा रखता है। अगर सूक्ष्म पदार्थ न हो तो स्थूल के व्यवहार का लोप हो जाय। स्थूल पदार्थ गुरुलघु ही होता है। किसी को एकान्त गुरु या एकान्त लघु नहीं कहा जा सकता; और चौस्पर्शी पुद्गलों को गुरुलघु भी नहीं कहा जा सकता। अतएव स्थूल पुद्गल गुरुलघु हैं और सूक्ष्म पुद्गल अगुरुलघु हैं।

अब गौतम स्वामी काल के विषय में प्रश्न करते हैं-- भगवन् ! काल गुरु है, लघु है, गुरुलघु है या अगुरुलघु है ?

काल का सूक्ष्मतम भाग 'समय' कहलाता है। 'समय' से लेकर उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि तक का दीर्घ काल गुरु है, लघु है, गुरुलघु है या अगुरुलघु है ? यही गौतम स्वामी का प्रश्न है।

दुनियामें कालके सिरपर दोष मढ़ देने की प्रथा प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। लोग स्वयं बुराई करते हैं, मगर कहते हैं-'क्या किया जाय भाई ! काल ही ऐसा निकृष्ट आ गया है कि न पूछो बात ! मगर ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि काल में ऐसी वस्तु नहीं है, जो स्वयं ही अच्छा-बुरा कर सके। वह तो द्रव्यों

के परिणमन में सहायक मात्र है। रात बीती और दिन हुआ। दिन आप से कोई काम करने के लिए नहीं कहता। फिर भी जो काम दिन में होने वाले हैं, वे दिन में होंगे, लेकिन उन्हें करने वाले आप ही हैं—दिन नहीं। दिन तो आपके कार्य करने में सहायक मात्र है। इसी प्रकार काल द्रव्य सिर्फ सहकारी है। जैसा काम आप करते हैं, वैसे ही काल कहलाने लगता है। जब लोग अच्छे काम करते हैं तब काल अच्छा कहलाता है और जब निकृष्ट काम करते हैं तब निकृष्ट काल कहा जाता है। इस प्रकार काल की अच्छाई-बुराई का व्यवहार आपके कामों पर है, आपके कार्यों का अच्छापन या बुरापन काल पर निर्भर नहीं है। आप जैसे काम करेंगे, वैसे ही काम होंगे। जिस काल में एक मनुष्य सामायिक करता है, उसी काल में दूसरा घर के काम-काज करता है और उसी काल में तीसरा घोर पाप करता है। काल तो शरीर के समान है, जिसे भिन्न-भिन्न प्रदेश के कपड़े पहनाये जा सकते हैं, मगर शरीर तो वही एक रहता है। आप अच्छे काम करके काल को अच्छा कह सकते हैं और बुरे काम करके बुरा कह सकते हैं। मगर काल तो वही है, उसमें क्या अन्तर पड़ता है?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—गौतम! काल न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है, किन्तु अगुरुलघु है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी ने कर्म के विषय में प्रश्न किया :-प्रभो ! कर्म गुरु हैं, लघु हैं, गुरुलघु हैं या अगुरुलघु हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया-गौतम ! अगर कर्म गुरुलघु होते तो शरीर के छूटने पर वे भी छूट जाते, मगर कर्म तो परलोक में भी साथ जाते हैं। अतः वह न गुरु हैं, न लघु हैं, न गुरु लघु है, वरन् अगुरुलघु हैं।

यह संसार कर्म की बदौलत ही है, फिर भी इसी सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि-भगवन् ! समस्त संसारी जीवों के कर्म एकत्रित किये जाएँ तो क्या वह एक चने के बराबर होंगे ? भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं, एक चने के बराबर भी नहीं होंगे। जिन कर्मों से सारे ब्रह्माण्ड की रचना है, वे एक चने के बराबर भी नहीं हैं, इतने अधिक सूक्ष्म हैं ! फिर भी वे स्थूल का आकर्षण करते हैं। कर्मों की इस सूक्ष्मता के कारण ही उनमें गुरुता, लघुता अथवा गुरुता-लघुता नहीं पाई जाती। कर्म वस्तुतः अगुरुलघु हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने लेश्या के विषय में प्रश्न किया है। लेश्याएँ छह हैं। योग और कषाय के निमित्त से आत्मा में जो अध्यवसाय उत्पन्न होता है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या के मूल भेद दो हैं-द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। गौतम स्वामी का प्रश्न है-भगवन् ! लेश्या भारी होती है, हल्की-भारी होती है

या न हल्की और न भारी होती है ? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा-हे गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा लेश्या हल्की भारी (गुरु-लघु) होती है और भाव की अपेक्षा अगुरुलघु होती है।

स्वर्ग और नरक लेश्या के निमित्त से ही मिलता है, फिर भी लेश्या (भावलेश्या) न गुरु है, न लघु है। द्रव्यलेश्या अलबत्ता गुरुलघु है। जिसकी जैसी लेश्या होती है, उसे वैसी ही गति मिलती है। गिता में कहा है:—

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवेति कौन्तेय ! सदा तद्भाव भावितः ॥

अर्थात् जो प्राणी जैसे-जैसे भावों का स्मरण करता है और मरने के समय जैसे भाव रखता है-जैसे भाव रखकर शरीर छोड़ता है, वह वैसे ही भावों में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि जीव की गति अपने ही भावों के अनुसार होती है। हाँ, अच्छे या बुरे भाव रखना जीव के अधिकार की बात है।

भावलेश्या—जो जीव के भाव-रूप ही है-न भारी है, न हल्की है। यही भाव लेश्या जीव की अच्छी-बुरी गति का कारण है।

लोग कहते हैं, अमुक आदमी तलवार से मारा गया मगर गंभीरता से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि तलवार

से कोई नहीं मर सकता । जो मरता है वह अपने हृदय के भावों से ही मरता है। जबतक परिणामों में विकार उत्पन्न न हो, तलवार कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती । चाहे कोई कितना ही बड़ा दुश्मन हो, पर यदि अपने भाव अच्छे हैं, तो वह कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। हे भव्य ! तुझसे कोई वैर रक्खे तो रखने दे, तू अपने हृदय के परिणाम मत बिगाड़। तू अपने परिणाम को वैरी मत बना। फिर तेरी कोई हानि न होगी।

इसके आगे गौतम स्वामी ने तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार संज्ञाओं के विषय में प्रश्न किया है। यह सब भाव गुरु हैं, लघु हैं, गुरुलघु हैं या अगुरुलघु हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया–यह सब अगुरुलघु हैं। तत्पश्चात् शरीर के संबंध में किये हुए प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया-कार्मण शरीर के अतिरिक्त चार शरीर गुरुलघु हैं और कार्मण अगुरुलघु हैं।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने द्रव्य, प्रदेश और पर्याय के विषय में प्रश्न किया। उसके उत्तर में भगवान् ने कहा-इन सब को पुद्गलास्तिकाय की भांति समझना चाहिए।

गौतम स्वामी ने भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल के संबंध में भी प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर दिया-इन्हें अगुरुलघु नामक चौथे पद में समझना चाहिए।

इन समस्त प्रश्नोत्तरों को संक्षेप में कहा जा सकता है कि अमूर्तिक पदार्थ तथा सूक्ष्म चौस्पर्शी पुद्गल गुरुलघु नहीं है-अगुरुलघु हैं और इसके सिवाय शेष समस्त पदार्थ गुरुलघु है। अर्थात् अमूर्त्त और सूक्ष्म-चौस्पर्शी पुद्गलों में चौथा भंग पाया जाता है और शेष में तीसरा। पहला और दूसरा भंग शून्य है अर्थात् यह दोनों भंग किसी भी पदार्थ में नहीं पाये जाते।

यह सब कथन द्रव्यों के संबंध में है। प्रदेशों और पर्यायों के संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि जिस द्रव्य में जो भंग पहले बतलाया गया है, उसके प्रदेशों में और पर्यायों

निर्ग्रन्थ

मूलपाठ—

प्रश्न—सेणूणं भंते ! लाघवियं, अप्पिच्छा, अमुच्छा, अगेही, अप्पडिबद्धया समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! लाघवियं जाव पसत्थं ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अकोहत्तं, अमाणत्तं, अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं ?

उत्तर—हंता गोयमा ! अकोहत्तं, अमाणत्तं, जाव पसत्थं ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! कंखपदोसे णं खीणे समणे णिग्गंथे अंतकरे भवति ? अंतिमसरीरिए वा ? बहु मोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता, अह पच्छा संबुडे कालं करेइ, ततो पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, जाव-अंतं करेइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! कंखपदोसे खीणे जाव अंतं करेइ ।

संस्कृत-छाया

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! लाघविकम्, अल्पेच्छा, अमूर्छा, अगृद्धिः, अप्रतिबद्धता श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम् ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! लाघविकं यावत् प्रशस्तम् ।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! अक्रोधत्वम्, अमानत्वम्, अमायत्वम्, अलोभत्वम्, श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम् ?

उत्तर—हन्त गौतम ! अक्रोधत्वम्, अमानत्वं यावत् प्रशस्तम् ।

प्रश्न— तद् नूनं भगवन् ! काङ्क्षाप्रदोषे क्षीणे श्रमणो निर्ग्रन्थः अन्तकरो भवति ? अन्तिमशरीरिको वा ? बहुमोहश्चापि पूर्वं

विहृत्य, अथ पश्चात् संवृतः कालं करोति, ततः पश्चात् सिद्धयति, बुध्यते, मुच्यते, यावद् अन्तं करोति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! काङ्क्षाप्रदोषे क्षीणे यावद् अन्तं करोति ।

शब्दार्थ-

प्रश्न—भगवन् ! लाघव, अल्प-इच्छा, अमूर्छा, अनासक्ति और अप्रतिबद्धता क्या श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ लाघव यावत् अप्रतिबद्धता प्रशस्त है ।

प्रश्न—भगवन् ! क्रोधरहितता, मानरहितता, माया-रहितता, निर्लोभता, यह सब श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त है ?

उत्तर— गौतम ! हाँ, क्रोधरहितता मानरहितता यावत् यह सब श्रमण निर्ग्रंथों के लिए प्रशस्त है ।

प्रश्न—भगवन् ! कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमण निर्ग्रंथ अन्तकर और अंतिम शरीर वाला होता है ? अथवा पहले की अवस्थामें बहुत मोह वाला होकर विहार करे

और फिर संवर वाला होकर काल करे तो सिद्ध हो, बुद्ध हो, मुक्त हो यावत् सब दुःखों का अंत करे ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, कांचामदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दुःखों का नाश करता है।

व्याख्यान—

पहले विभिन्न वस्तुओं के विषय में लघुता और गुरुता आदि का विचार किया गया है। यहाँ आत्मा के स्वरूप के संबंध में विचार किया जा रहा है। शास्त्र के सब विचार आत्मोन्नति के लिए हैं। यों तो आत्मोन्नति का ठेका किसी ने नहीं ले रखा है, जो चाहे अपने आत्मा के कल्याण के लिए उद्यम कर सकता है, लेकिन श्रमण निर्ग्रंथ तो आत्मोन्नति के लिए ही गृह-संसार छोड़ कर, कमर कस कर तैयार हुए हैं। अतएव श्रमण निर्ग्रंथों का मुख्य उद्देश्य आत्मोन्नति ही है। आत्मोन्नति के सम्बन्ध में उन्हें खास तौर पर विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। उन्हें विचारते रहना चाहिए कि मैं क्यों मुनि हुआ हूँ ? उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मैं मान-सन्मान या सांसारिक वासनाओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से मुनि नहीं हुआ हूँ। मुनि होने का ध्येय समस्त वासनाओं को जीत लेना है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर में यहाँ इसी विषय के प्रश्नोत्तर

हो रहे हैं। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर दोनों ही महापुरुष हैं। इन के प्रश्नोत्तर साधारण नहीं हो सकते। बड़े आदमी की बात बड़ी ही होती है अतएव हमें इन प्रश्नोत्तरों की महत्ता को समझना चाहिए। बाल जीवों के लिए तो इन में बहुत विशेषता है।

गौतम स्वामी ने श्रमण निर्ग्रंथ को लक्ष्य करके यह प्रश्न किये हैं। अतएव पहले यह देख लेना उचित होगा कि श्रमण निर्ग्रंथ किसे कहते हैं ? और 'श्रमण' निर्ग्रंथ इन दो शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करने का प्रयोजन क्या है ?

व्यवहार में प्रायः दो नाम साथ देखे जाते हैं—व्यक्ति का नाम और साथ में गोत्र का नाम। एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, अतएव विशेष पहिचान के लिए नाम के साथ गोत्र का प्रयोग किया जाता है। इसीलिए दस्तावेज आदि में भी दो नामों का व्यवहार किया जाता है। इसी विशेष पहिचान के लिए यहाँ शब्द का संकोच न करके दो नाम दिये गये हैं—श्रमण और निर्ग्रंथ। इन दो शब्दों के प्रयोग से साधारण लोग यथार्थता को समझ सकते हैं और पण्डित लोग अधिक रहस्य निकाल सकते हैं।

साधारणतया 'श्रमण' का अर्थ साधु है। 'श्रमण' शब्द श्रम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है-(तप में) श्रम करना।

लेकिन केवल धात्वर्थ से साधु का बोध नहीं होता, क्योंकि तप में गृहस्थ भी श्रम करते हैं। अतएव साधु का ही बोध कराने के लिए 'श्रमण' शब्द के साथ 'निर्ग्रन्थ' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। गृहस्थ तप में श्रम भले ही करे मगर उसने ग्रन्थ नहीं छोड़ा है। किसी भी वस्तु पर ममता होने को ग्रन्थ कहते हैं। गृहस्थ इस ग्रन्थ से नहीं छूटा है और साधु उसे छोड़ चुके हैं। अतः एव श्रमण निर्ग्रंथ का अर्थ साधु समझना चाहिए।

साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नहीं रखते। संयम की साधना के लिए उपयोगी और अनिवार्य जो उपकरण रखते भी हैं, उन पर उनकी ममता नहीं होती। ममता न होने के कारण वह परिग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। इसीलिए उन्हें निर्ग्रंथ कहते हैं

निर्ग्रंथ हो जाने पर भी तप में श्रम किये बिना काम नहीं चल सकता। निर्ग्रंथ होने के साथ ही तप में भी श्रम करना चाहिए। जो ग्रंथ का त्याग करे और तप में श्रम भी करे, वही श्रमण निर्ग्रंथ हैं। श्रमण निर्ग्रंथ के विषय में प्रश्न करके गौतम स्वामी यह प्रकट करते हैं कि कोई व्यक्ति व्यवहार में श्रमण निर्ग्रंथ हो गया है, फिर भी निश्चय में आत्मा का कल्याण करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए!

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान्! श्रमण निर्ग्रंथ ने जिस उद्देश्य से साधुता अंगीकार की है और घर-द्वार छोड़ा है, वह

उद्देश्य इन पाँच बातों से पूर्ण होजाता है ? वे पाँच बातें यह हैं लाघव, अल्पेच्छा, अमूर्छा, अगृद्धि और अप्रतिबद्धता। क्या इन पाँच बातों में साधुता की सफलता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हाँ गौतम ! इन पाँच बातों में साधुता की सफलता है।

ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि यह पांच बातें साधारण-सी है। एक बच्चा भी समझ सकता है कि यह पांच बातें अच्छी हैं। फिर किस प्रयोजन से गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछ कर इन्हें सिद्ध किया है ? जिस भली बात को सब समझ सकते हैं, उसें भली ही कहा जायगा और भगवान् एवं गौतम स्वामी की बात ऐसी न होगी, जिसे संसार के लोग न जानते हों या न समझ सकते हों। उन महापुरुषों की बात इतनी सरल है कि उसे जग जानता है। लेकिन जिस बात को जगत जानता हुआ भी भूल रहा है, वही बात महापुरुष बतलाते हैं। उसी को बतलाने के लिए ही यह प्रश्नोत्तर हैं।

जिसने भगवान के नाम पर संयम लिया है, उसे भगवान समझाते हैं कि तुमने मेरे नाम पर संयम तो लिया है, मगर यह समझ लेना कि मेरे संयम का आधार क्या है ? क्या करने पर मेरे नाम पर लिया हुआ संयम सार्थक होगा।

सभी लोग परमात्मा को राजी करना चाहते हैं। कोई भेंट चढ़ाकर, कोई पकवान अथवा वस्त्र द्वारा उसे रिझाना चाहते हैं। कोई किसी और उपाय से प्रसन्न करने की इच्छा करते हैं। मगर जैन शास्त्रों का कथन यह है कि भगवान् इस प्रकार राजी नहीं हो सकते। भगवान् पूर्वोक्त पांच बातों से प्रसन्न होते हैं। इन पांच का अर्थ संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) लाघव—बोझा हट जाना या द्रव्य और भाव से हल्का हो जाना लाघवियं अथवा लाघव या लघुता है। यहां लघुता का अर्थ द्रव्यलघुता ही है। भावलघुता का वर्णन आगे किया जायगा। द्रव्यलघुता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उपधि (उपकरण) का भार इतना अधिक न हो जाय कि उसके लिए मजदूर करना पड़े या गाड़ी रखनी पड़े। किन्तु शास्त्र में धर्मोपकरणों की जो मर्यादा बताई है, उसी में रहकर उपधि रखना चाहिए। अगर उससे भी कम उपधि रक्खी जाय तो अधिक प्रशस्त लाघव है।

(२) अल्पेच्छा—उपधि कम रक्खी, मगर इच्छा न मिटी, खाने-पीने या पहनने की तृष्णा बनी रही तो वह लघुता निरर्थक-सी हो जाती है। यह बात श्रमण निर्ग्रंथ के लिए उचित नहीं है। अतएव भगवान कहते हैं—यह खाऊँ, यह लाऊँ, इत्यादि अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। साधु होकर भी जिसने

अभिलाषा न जीती, जिसमें भोजन आदि की वासना बनी रही उसका साधुपन कायम नहीं रह सकता। इसलिए अल्प उपकरण रखने के साथ ही अभिलाषा को भी जीतना चाहिए।

(३) अमूर्छा—आहार आदि अल्प और साधु की रीति के अनुसार ही लिया, फिर भी ममता को जीतना कठिन है। साधु को ममता पर विजय प्राप्त करना ही चाहिए। इस लिए तीसरी बात अमूर्छा बतलाई गई है। उपधि कम है, फिर भी अगर यह भावना बनी रही कि 'यह मेरी है और मैं इसका हूँ' अथवा 'हाय! कोई मेरा उपकरण ले न जाय' तो साधुपन दूषित होता है। अतएव उपकरणों की संरक्षा के लिए हाय-हाय नहीं रखनी चाहिए, किन्तु यह विचारना चाहिए कि-शरीर भी चला जाय तो क्या परवाह है। शरीर मैं नहीं हूँ, मेरा नहीं है। यह मुझसे सर्वथा निराला है।

(४) अगृद्धि—भोजनादि अल्पालिया, इच्छा भी अधिक की नहीं की, और उसके संरक्षण का ध्यान भी नहीं है, लेकिन उसके प्रति आसक्ति हुई तो साधुता दूषित हो जाती है। अगृद्धि अर्थात् अनासक्ति होने पर ही प्रशस्त मुनिपन है।

(५) अप्रतिबद्धता—यह अप्रतिबद्धता उक्त चारों से बड़ी है। इष्टमित्रों से, सगे-संबंधियों से विशेष संसर्ग न रखना, स्नेह और राग के बन्धन को काट डालना अप्रतिबद्धता है। साधु को पवन की भांति अप्रतिबद्ध रहना चाहिए।

टीकाकार ने इन पांच बातों का दूसरी तरह से विवेचन किया है। वे कहते हैं कि लाघव का अर्थ यदि अल्प-उपधि किया जाय तो पशु तो कोई उपधि नहीं रखता। वह बिलकुल नग्न रहता है। इसी प्रकार भिखारी के पास भी अल्प उपधि होती है। वह भी फटे और थोड़े से कपड़े रखता है। पात्रों में एक ठीकरा ही रखता है। तो क्या पशु और भिखारी को लघुता धारण करने वाला मानना चाहिए ? यह लघुता कार्यसाधक नहीं है। कार्यसाधक लघुता वही है जिसके साथ इच्छा भी अल्प हो। अतएव साधु होकर भी जिसने इच्छा नहीं जीती उसकी लघुता किसी काम की नहीं।

गर्मी के मौसिम में जंगल में हरियाली नहीं दीख पड़ती किन्तु वर्षा होने पर वह हरा-भरा हो जाता है। वह हरियाली कहीं बाहर से नहीं आती। वह जंगल की भूमि में ही रही हुई थी। गर्मी के कारण अबतक दबी हुई थी जो वर्षा का निमित्त पाकर उग आई। इसी प्रकार प्रकट में अधिक उपधि नहीं है, पर हृदय की वासना नहीं मिटी, सिर्फ न मिलने के कारण अल्प है, मिले तो अधिक हो जाय। यह सच्ची लघुता नहीं है। सच्ची लघुता वही है, जिसके साथ अल्प इच्छा हो।

अल्प-इच्छा की पहिचान अमूर्छा से होती है। इच्छा और मूर्छा में क्या अन्तर है ? इच्छा अप्राप्त वस्तु के संबंध में

होती है और मूर्छा प्राप्त वस्तु के विषय में मूर्छा का अर्थ बेभान होना है। अप्राप्त वस्तु की प्रबल इच्छा से बेभान होजाना भी मूर्छा ही ही है। अगर किसी में अल्प-इच्छा के साथ अमूर्छा न हुई तो उसकी अल्प-इच्छा काम की नहीं है। अल्प इच्छा के साथ अमूर्छा हो तभी अल्प-इच्छा प्रशस्त है कदाचित् किसी को किसी वस्तु की इच्छा हुई मगर मूर्छा न हुई तो वह उसके लिए पागल नहीं होगा। किसी ने नशा कम किया है पर इच्छा बनी रही और इच्छा के साथ मूर्छा भी रही तो कम नशा भी बेभान कर देगा अतएव अल्प-उपाधि के साथ अल्पेच्छा और अमूर्छा का होना आवश्यक है। तभी वह प्रशस्त है।

चौथी बात अगृद्धि है। कभी-कभी किसी वस्तु पर मूर्छा तो होती है। पर मूर्छा रखने वाला बाहर की मर्यादा रखता है। लेकिन गृद्धि होने पर बाहरी मर्यादा का भी लोप हो जाता है। अतएव गृद्धि रखना अत्यन्त हानि कारक है। अगृद्धि तभी रह सकती है, जब मुनि अप्रतिबद्ध हो अर्थात् उस के हृदय में किसी प्रकार का प्रतिबंध (स्नेह-संबंध) न हो।

यह पाँच बातें श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए तो लाभदायक हैं ही, गृहस्थ के लिए भी प्रशस्त हैं। यह बात किसी बड़े उदाहरण से समझाई जा सकती है और किसी छोटे उदाहरण से भी समझाई जा सकती है। यहाँ एक प्रसिद्ध उदाहरण ही

दिया जाता है। सूर्पनखा ने रावण के सामने सीता का वर्णन किया। उस समय रावण के चित्त में किस-किस प्रकार की भावनाएं उत्पन्न हुई ? सर्व प्रथम रावण की लघुता का नाश हुआ। उसे अपनी समस्त स्त्रियाँ सीता के सामने तुच्छ जान पड़ने लगीं। वह सोचने लगा सीता के सामने मेरी स्त्रियाँ कुछ चीज ही नहीं हैं। जो कुछ है, सीता ही है। इस प्रकार लाघव का नाश होने के साथ उसमें इच्छा उत्पन्न हुई कि-देखना चाहिए, सीता कैसी स्त्री है। रावण में लाघव था, अल्पेच्छा होती तो वह ऐसा विचार ही न करता। पर उसमें अलाघव उतपन्न होने के साथ ही इच्छा भी उत्पन्न हुई। इच्छा होने पर भी अगर मूर्छा न होती तो वह इतने से बस करता। उसे अपने कार्य की अनुचितता का विचार हो आता। वह सोचता-सीता पर स्त्री है, उसे देखने के लिए जाना उचित है या नहीं ? मगर इच्छा के साथ मूर्छा भी उसमें उत्पन्न होगई। वह शुभ-अशुभ परिणाम को भूल कर सीता को देखने गया। वह मूर्छा भी अगर आसक्ति न होती तो रह जाती, पर उसमें आसक्ति भी उत्पन्न हुई। अत एव वह दीपक पर पतंग की तरह गिर पड़ा। वह सीता पर आसक्त हो गया। यदि इस आसक्ति के साथ ही उसमें प्रतिबंध न होता तो भी वह प्रकट हानि से बच जाता। मगर प्रतिबंध उत्पन्न होने के कारण उसका सर्वनाश होगया।

अब सीता के संबंध में पाँच बातों का विचार कीजिए। रावण में लाघव आदि पाँच बातें नहीं थीं, मगर सीता में थीं या नहीं? यद्यपि सीता स्त्री थी और रावण पुरुष था, मगर शास्त्र इस तरह का भेद नहीं रखता। जो भी कोई सद्गुणी है, शास्त्र की दृष्टि से वही बड़ा है।

जनक की पुत्री और राम की पत्नी होने पर भी सीता में लाघव था उसे वन में झोंपड़ी में रहना और भूमि पर सोना पड़ता है। यह लाघव है। आप कहेंगे—ऐसी अनेक स्त्रियाँ हैं, जो जंगल में रहकर जमीन पर सोती हैं। फिर सीता के कार्य में ही क्या विशेषता है? मगर सीता में लाघव के साथ ही इच्छा न होने की विशेषता थी। यह बात नहीं थी कि इच्छा न होने पर भी विवश होकर राम के साथ वन में जाना पड़ा हो। इस प्रकार सीता की इच्छा अल्प थी और अल्पेच्छा के साथ उसमें मूर्छा भी नहीं थी। राजमहलों में सब प्रकार का सुख था, फिर भी राम के साथ वन में जाने के समय उसने अपने कर्त्तव्य का विस्मरण नहीं किया। इस प्रकार मूर्छा न होने के साथ ही उसमें गृद्धि भी नहीं थी। अगर वह अपने राजकीय सुखों का विचार करती तो उसमें गृद्धि कही जाती। लेकिन इस गृद्धि के होने पर सीता, सीता ही न रह जाती। फिर तो वह सामान्य स्त्रियों की कोटि में होती। अगृद्धि के साथ उसमें अप्रतिबंधता भी थी। रावण उसे लंका में ले गया। बन्धन में

डाल दिया। लेकिन वह बन्धन में नहीं रही। उसने रावण प
और सोने की लंका पर थूक दिया अर्थात् उन्हें धिक्कार दिया।

श्रमण निर्ग्रंथ को विचारना चाहिए की सीता ने भ
इन पाँच बातों को धारण किया था तो हमें भी किस प्रक
धारण करना चाहिए। साधुपन लेने पर इनका धारण करना
उचित है। इनके बिना साधुत्व सार्थक नहीं है!

कहां चक्रवर्ती भरत और कहां एक साधारण सुनार
किन्तु भगवान् ने भरत को अल्पपरिग्रही कहा और सुनार क
महापरिग्रही। इस विलक्षणता का क्या कारण है? उनकी
अपनी-अपनी विशेषता के कारण ही भगवान् ने ऐसा कहा है
भगवान् ने आनन्द एवं कामदेव आदि श्रावकों को भी अल्पारंभी,
अल्पपरिग्रही कहा है। कहावत है:—

समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

धाय, बालक को खिलाती-पिलाती और उसके साथ खेल
करती है, तथापि वह मानती है उसे दूसरे का ही। इसी प्रकार
श्रावक सांसारिक काम करता अवश्य है, लेकिन मानता है कि
संसार अलग है और मैं अलग हूँ। यह लाघव है। इस तरह
का लाघव धारण कर के इच्छा, मूर्छा, गृद्धि और प्रतिबद्धता
को हटाना ही प्रशस्त है।

आप तपस्या करते हैं, मगर इच्छा, मूर्छा, आदि को टाना कठिन समझते हैं। उपवास करने पर भी अगर इच्छा नी रही तो यह वैसी ही बात होगी कि गर्मी के कारण जंगल में रियाली दिखाई नहीं देती, पर वर्षा होने पर फिर नजर आने गती है। अतएव पुद्गल को अनित्य समझ कर ममता उतारो। जब तक अन्तःकरण से ममता मूर्छा न मिटेगी, तब तक चित्त का क्लेश और कदाग्रह नहीं मिटेगा और जब तक क्लेश-कदाग्रह नहीं मिटेगा तब तक उदारता नहीं आएगी और जब तक उदारता न हो तब तक तप करने से ही क्या होता है! इसीलिए शास्त्र में सर्व प्रथम दान का उपदेश दिया गया है और उसके पश्चात् शील, तप और भावना का विधान किया गया है। जिसे वैभव मिला है, उसे समझना चाहिए कि धर्म मेरा भाई है। उसकी सेवा करना, सहायता करना मेरा कर्त्तव्य है। राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से एक ही बार धर्म का उपदेश सुना था। धर्मोपदेश सुनकर वह रमणीक हो गया था। तब केशी श्रमण ने उससे कहा था-देख राजा तू रमणीक से अरमणीक मत बनना।

राजा प्रदेशी ने कहा-अनुदारता से अरमणिकता आती है। मैं अब अनुदार नहीं रहूंगा। मैं अपनी राज्य-संपदा के चार भाग करूंगा। एक भाग अन्तःपुर में दूंगा। एक भाग खजाने में दूंगा।

एक भाग सेना आदि पर लगाऊंगा और एक भाग से दीन-दुखियों को दान दूंगा।

आपको भी पुण्य के फल से वैभव मिला है। मगर आप अपने वैभव का कुछ भाग दान में भी लगाते हैं या केवल उपवास करके बचत ही कर लेते हैं। भर्तृहरि ने धन की तीन गतियाँ बताई हैं—दान भोग, और नाश। जो धन दान में और भोग में नहीं लगता, उसकी तीसरी गति (नाश) अवश्य होती है। इसके अतिरिक्त आप जो द्रव्य भोग में लगाते हैं, वह भी नष्ट तो होता ही है। भोजन करने में, वस्त्र खरीदने में और दूसरे कामों में धन का नाश तो होता ही है। भोग के साथ नाश लगा हुआ ही है। धन का नाश अगर नहीं होता तो सिर्फ दान करने से ही।

दान कहां करना चाहिए, यह विवेक न होने से भी हानि हो रही है। जहां दान करना चाहिए, वहां तो लोग दान नहीं करते और अनावश्यक जगह में उड़ेल देते हैं। कई लोग दान न देने की नीयत से कम आमदनी होने का बहाना किया करते हैं, मगर अपने आमोद-प्रमोद या मजा-मौज में कुछ भी कमी नहीं करते हैं। सिर्फ धर्म के कामों के लिए आय की ओर नजर दौड़ाते हैं। उन्हें यह समझ नहीं कि धर्म की कमी से ही यह कष्ट हो रहा है। अब फिर धर्म के काम में अनुदारता करने से हमारा कष्ट कैसे मिट सकता है! धर्म को न सींचकर दूसरी जगह धन लगाना, उसी तरह हानिप्रद है, जिस तरह सूखते हुए

आम को न सींचना और बबूल को सींचना। यह नहीं जानते कि फल तो आम से ही मिल सकता है। बबूल को सींचने से तो काँटे ही मिलेंगे। गाय के बदले गधा पालने वाले को दूध कैसे मिल सकता है!

लोग अपने व्यवहार के काम तो देखते हैं, मगर धर्म के काम नहीं देखते। उन्हें यह विचार नहीं कि धर्म की शिक्षा किस प्रकार बढ़े और धर्म का पालन करने वालों की सहायता किस प्रकार हो। अनेक धर्मप्रिय लोग ऐसे शीलवान् होते हैं कि घर में चाहे भूखे मर जाएँगे मगर किसी के आगे हाथ नहीं पसारेंगे। दुःखी विधवा आदि स्त्रियों की अवस्था खास तौर पर विचारणीय है। उनकी उचित सहायता करना अपनी ही सहायता करना है। अपनी शक्ति केन्द्रित करके अच्छे-बुरे की पहचान करना और अच्छे काम में धन का सदुपयोग करना, यह विवेक का काम है।

कई लोग, जैसे तेरहपंथी, कहते हैं कि भूखे को भोजन देना भोंथरी (भोटी) छुरी को तेज करना है। उनकी युक्ति यह है—कि भूखे को भोजन देना धर्म होता तो साधु किसी भूखे को अपने पास का आहार खाने के लिए क्यों नहीं देते? ऐसा कहने वाले लोग यह नहीं जानते कि साधु को भोजन क्यों मिलता है? मान लीजिए, किसी ने गाय के निमित्त खर्च करने

के अभिप्राय से आप को दस रुपये दिये। आप जा रहे हैं। रास्ते में एक दुखिया मिल गया। क्या आप को वह रुपया उस दुखिया को देने का अधिकार है? वह रुपया आप दूसरे सीगे में खर्च नहीं कर सकते, उसी प्रकार साधु को जो भोजन मिला है, वह साधु ने अगर दूसरे को दे दिया तो यह इसी तरह का विश्वासघात होगा, जैसा विश्वासघात गाय के लिए मिले हुए धन को दूसरे काम में लगाने से होता है। साधु अपने लिए उतना ही आहार लाते हैं, जितने से उनका निर्वाह हो सके। वे उससे ज्यादा आहार लाते ही नहीं हैं। साधु को जिसने आहार दिया है, साधु के निमित्त ही दिया है, किसी और को देने के लिए नहीं। फिर भी साधु दूसरे काम में उसका व्यय करता है तो वह विश्वासघात का पाप करने वाला ठहरता है।

इसी भगवती सूत्र में कहा है कि—किसी मनुष्य ने एक साधु को दो लड्डू या दस कम्बल देकर कहा-एक आप ले लेना और शेष अमुक साधु को दे देना। साधु ले कर आया। किन्तु दाता ने जिसे देने को कहा था, वह साधु वहां से चला गया या मर गया। ऐसी अवस्था में उस साधु को वह चीजें स्वयं अपने काम में लाने या दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। उसका कर्त्तव्य यह होगा कि वह एकान्त स्थल में जाकर वह चीजें परठ दे, जहां कोई देखता न हो।

जब शास्त्र में साधु के लिए ऐसी मर्यादा बतलाई गई है, तब साधु का उदाहरण देकर भोजन देने से गृहस्थ को पाप बताना नितान्त अनुचित है। साधु भूखे को आहार नहीं देते, इसलिए देना पाप ठहराया जाय तो एक बात और विचारणीय है। दीक्षा देना तो पाप है नहीं, तब अगर कोई आदमी यह कहे कि साधुजी थोड़ी देर के लिए अपने सिर पर पगड़ी रख लें तो मैं दीक्षा लेने के लिए तैयार हूँ। क्या साधु सिर पर पगड़ी रख लेंगे? अगर पगड़ी नहीं रक्खी तो क्या दीक्षा लेना-देना पाप हो गया? यह तो अपनी-अपनी मर्यादा है। साधु अपनी मर्यादा का पालन करने के लिए अगर किसी को नहीं देते उसी कारण दुखी को देना पाप नहीं हो सकता।

सिद्धान्त में कहा है—अगर कोई आदमी अन्न-पानी के अभाव में बिलबिलाहट करता हुआ मरता है तो उसका मरण बाल मरण है। संथारे का अर्थ किसी को भूखे मारना नहीं है। अगर किसी ने संथारा किया है, लेकिन अब भूखा नहीं रह सकता और रोटी माँगता है। उसे रोटी न देने पर उसकी दया उठ जाती है। जो अन्न के लिए बिल बिलाता हुआ मरता है, वह अनन्त संसार बढ़ाता है,

तेरहपंथियों का यह भी कहना है कि जिसे भोजन दिया, वह खाकर पाप करेगा तो उस पाप का निमित्त देने वाला हुआ।

मगर यह बात विचारणीय है कि देने वाले ने किस भावना से भोजन दिया है। पाप की भावना से या दया की भावना से? किसी जवान लड़की का हाथ वैद्य नाड़ी देखने के लिए पकड़ता है और गुंडा बुरी नीयत से पकड़ता है। क्या दोनों का हाथ पकड़ना बराबर है? एक भला आदमी डूबती हुई स्त्री को बचाने के लिए पकड़ता है और दुसरा कोई लुच्चा बुरे काम के लिए पकड़ता है। क्या दोनों का काम एक सरीखा है? दोनों की भावना समान है? इसी प्रकार दया करके रोटी देने वाले की भावना क्या पाप कराने की है? नहीं, तो फिर पाप कैसे हो सकता है? पाप का झूठा भय दिखलाकर दया का शत्रु बनना ठीक नहीं है।

तात्पर्य यह है कि लाघवता आदि प्राप्त करने के लिए दया, दान, उदारता आदि सद्गुणों को प्राप्त करना चाहिए।

उक्त पाँच बातों के संबंध में प्रश्न करके गौतम स्वामी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इनके विषय में कोई कुछ भी कहे, किसी का कितना ही मत भेद हो, लेकिन यह पाँच बातें भगवान् महावीर के केवल ज्ञान की कसौटी पर कसी हुई हैं और भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि यह अच्छी हैं। अतएव उन्हें अच्छी ही समझो। इनके विषय में किसी प्रकार का संदेह मत करो।

आत्मा का संसर्ग यानी प्रतिबंध कैसे दूर हो, इसके लिए गौतम स्वामी क्रोध, मान, माया और लोभ के विषय में प्रश्न

करते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ का तथा अलाघव, इच्छा, मूर्छा, गृद्धि एवं प्रतिबंध का अविनाभावी संबंध है। एक के बिना दूसरे का न होना अविनाभावी संबंध कहलाता है। क्रोध आदि के अभाव में अलाघव, इच्छा, मूर्छा, आदि का होना संभव नहीं है और इन पाँचों के बिना क्रोध आदि नहीं हो सकते। जैसे आत्मा और ज्ञानका अविनाभाव संबंध है अर्थात् आत्मा के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रहता उसी प्रकार क्रोध आदि और अलाघव आदि का अविनाभाव संबंध है।

क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं। कषाय तब तक नहीं छुटते, जब तक इच्छा, मूर्छा आदि हैं। इच्छा, मूर्छा आदि के न रहने पर कषाय भी नहीं रहते और कषाय के अभाव में इच्छा आदि का सद्भाव नहीं रह सकता। इस तरह दोनों का अविनाभाव संबंध है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! अक्रोध, निरभिमानता, अमाया यानी सरलता और अलोभ अर्थात् संतोष, यह चारों बातें श्रमण निर्ग्रंथ के लिए प्रशस्त हैं?

भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम! हां प्रशस्त हैं।

गौतम स्वामी जरासे इशारे से ही समझने वाले थे। वे भगवान् के इस उत्तर से समझ गये लेकिन बाल जीवों को

समझाने के लिए स्पष्ट करना आवश्यक है। अतएव यहां कुछ स्पष्ट करके समझाना उचित होगा। क्रोध, मान, माया और लोभ यह मोह की प्रकृतियां हैं। इन प्रकृतियों से लाघवता आदि का कैसा संबंध है, यह बताने के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ को दो भागों में विभक्त कर दिया है। क्रोध, और मान द्वेष में है और माया तथा लोभ, राग के अन्तर्गत हैं। यों राग-द्वेष को पहचानना कठिन है, लेकिन उन पांच बातों से राग-द्वेष की पहचान भी हो जाती है।

कई लोग अपने स्वार्थ की बातें राग-द्वेष से अलग मानते हैं और जहाँ दूसरे के लाभ की बात हुई वहां राग-द्वेष बतला देते हैं। जैसे—तेरहपंथी लोगों का कहना है कि बिल्ली से चूहे को छुड़ाया तो राग-द्वेष हो गया अर्थात् चूहे पर राग आ गया और बिल्ली पर द्वेष हो गया। और राग-द्वेष बुरा है। जहां राग-द्वेष है वहां क्रोध, मान, माया और लोभ—चारों हैं। तुम्हें सद्गुरु नहीं मिले, इससे दया के नाम पर राग-द्वेष में पड़ रहे हो। मगर राग-द्वेष को त्यागे बिना कल्याण नहीं। शास्त्र में इनका निषेध किया गया है।

यह तेरहपंथियों का कथन है। उनसे यह पूछना चाहिए कि—तुम्हारा श्रावक तुम्हारे दर्शन को आ रहा है। मार्ग में कोई दूसरे साधु उसे मिल गये। श्रावक ने उन्हें वन्दना नहीं की और वह तुम्हारे ही पास आया। यह राग-द्वेष है या नहीं ?

इस प्रश्न के उत्तर में तेरहपंथी कहते हैं—'ऐसा करने वाला श्रावक तो विवेकवान् है। वह कुगुरू-सुगुरू को पहचानता है। इसी कारण उसने कुगुरू को वन्दन नहीं किया।' पर क्या यह नहीं मानते कि अभी उस श्रावक से राग नहीं छूटा है। उसके मन में हमारे प्रति प्रेम है। तभी वह दर्शन वन्दन करने आता है? ऐसी दशा में जब अपने दर्शन के समय राग-द्वेष को बुरा नहीं मानते, तब दया के समय ही राग-द्वेष का नाम लेकर दया का दुश्मन बनने की क्या आवश्यकता है?

मतलब यह है कि जहां लाघव, अल्पेच्छा, अल्प मूर्च्छा आदि होंगे, वहां क्रोध, मान आदि का भी विजय होगा। जहां महा-इच्छा और महा-मूर्च्छा आदि होंगे वहां क्रोध, मान आदि भी बहुत होंगे।

श्रावक, साधु के दर्शन के लिए जाता है, सो अल्प उपधि, अल्प इच्छा, अल्प मूर्च्छा आदि से प्रेरित होकर आता है या महा-इच्छा, महा-मूर्च्छा आदि से? अगर वह सट्टे का आंक पूछने या रोजगार की बात पूछने आता, तब तो दूसरी बात थी, मगर बात ऐसी नहीं होती। संतों के पास जाकर श्रावक की भावना उल्टी बदल जाती है।

अब यह भी देखना चाहिए कि चूहे को बचाने वाला आदमी महा-इच्छा और महा-मूर्च्छा आदि से प्रेरित होकर बचाता है या अल्प-इच्छा और अल्पमूर्च्छा से प्रेरित होकर बचाता है?

मैंने गुजराती भाषा की एक पुस्तक में चूहे पर एक कविता पढ़ी थी। उस कविता का भाव यह था कि चूहे सारी रात खड़खड़ करते हैं, दीपक की बत्ती खींच ले जाते हैं। कपड़े काट डालते हैं और बरतन तोड़-फोड़ देते हैं। चूहों का यह दुःख बिल्ली मिलने पर दूर हो सकता है। डाक्टर लोग भी चूहे को प्लेग फैलाने वाला बतलाते हैं। उनका कहना है, जहां चूहे होते हैं वहीं प्लेग उत्पन्न होता है। यद्यपि बेचारे चूहे स्वयं मर कर प्लेग की सूचना देते हैं, लेकिन डाक्टर कहते हैं कि वे पैदा करते हैं।

कहने का आशय सिर्फ इतना है कि लोग चूहे से तकलीफ होना मानते हैं। चूहे से किसे क्या लाभ है, जिससे उस पर किसी का राग हो? चूहे को बचाने वाला किस स्वार्थ से प्रेरित होकर चूहा बचाता है? जिसे हानिकारक माना जाता है, उसे बचाने का काम दया के बिना नहीं हो सकता। चूहे से कुछ लाभ तो है ही नहीं, उलटे बचकर वह हानि ही करेगा। फिर उसके बचाने में राग कैसे हुआ? अपने दर्शन करने में तो राग नहीं बतलाते मगर दया में राग बतलाते हैं। यह कैसे ठीक कहा जा सकता है?

चूहे पर राग बताने के साथ वे बिल्ली पर द्वेष होना भी कहते हैं। उनका यह भी कहना है कि अगर आपके सामने किसी ने थाल परोसा हो और बीच में झपट कर कोई उठा

ले जाय तो आपको कितना दुःख होगा ? इसी प्रकार बिल्ली के मुख से उसका आहार छीन लेने से उसे दुख नहीं होता होगा ? या द्वेष है या नहीं ?

यह कथन भी निराधार है। अगर बिल्ली पर चूहा छुड़ाने वाले का द्वेष होता तो, जब वह जलेबी लेकर जा रही हो तब उसके मुख से वह जलेबी क्यों नहीं छुड़ा लेता ? अगर इसे द्वेष कहते हो तो किसी साधु पर कुत्ता झपटा और आपने बीच में पड़कर दुत्कार दिया तो क्या यह कुत्ते पर द्वेष होना कहा जायगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं, यह तो साधु का उपसर्ग टालना हुआ।' तो जैसे कुत्ते को दुत्कारने पर भी कुत्ते के प्रति द्वेष नहीं हुआ, उसी प्रकार चूहे को छुड़ा देने पर भी बिल्ली पर द्वेष नहीं हुआ। अगर बिल्ली या कुत्ता उपदेश सुन-समझ सकता होता तो उसे दुत्कारने की आवश्यकता न रहती। मगर उसमें इतनी समझ नहीं है। इसी कारण उसे दुत्कार कर छुड़ाना पड़ता है। मगर यह द्वेष नहीं है, करुणा है।

इसके अतिरिक्त जिस समय जिस पर द्वेष होता है, उसी समय उस पर राग नहीं हो सकता। यह एक ऐसी बात है, जिसे कोई समझदार आदमी अस्वीकार नहीं कर सकता। जिस समय बिल्ली, चूहे पर झपटी और कोई दयालु चूहे को बचाने दौड़ा। बिल्ली भागी कि उसी समय उस पर कुत्ता दौड़ा। अब

वह दयालु पुरुष बिल्ली को भी चूहे की ही भांति बचाने का प्रयत्न करता है। अगर बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह उसे बचाने क्यों दौड़ता ? जब वह दौड़ता है तो बिल्ली पर द्वेष कहाँ रहा ? अतएव चूहे पर राग और बिल्ली पर द्वेष आने की बात मिथ्या है। बचाने वाला राग-द्वेष से प्रेरित होकर नहीं वरन् करुणा से प्रेरित होकर चूहे को बचाता है। इसलिए उसे राग-द्वेष में गिनकर पाप बतलाना सर्वथा अनुचित है।

जो भव्य पुरुष आत्मकल्याण का अभिलाषी है, उसे राग-द्वेष का ठीक-ठीक स्वरूप समझकर उनका त्याग करना चाहिए। भगवान् ने क्रोध, मान, आदि का और उक्त पांच बातों का संबंध बतलाकर कहा है कि जहाँ यह हैं, वहाँ वह भी है और जहाँ यह नहीं हैं, वहाँ वह भी नहीं है। अगर आप भगवान् का यह कथन समझ गये हों तो स्वार्थ बुद्धि का त्याग करो। स्वार्थ बुद्धि से ही राग द्वेष होता है।

आप सोचते होंगे, अगर स्वार्थ बुद्धि छूटती तो साधु ही हो जाते। लेकिन आप अगर स्वार्थ बुद्धि नहीं छोड़ सकते तो मैं आपसे क्या कहूं ? क्या मैं यह कहूं कि आप स्वार्थ बुद्धि रक्खो ? आप मुझसे यह कहलाना पसंद करेंगे ? यह बात दूसरी है कि आप अपनी दुर्बलता के कारण स्वार्थ का सर्वथा

त्याग न कर सकें, लेकिन उस ओर अग्रसर तो होओ। जितना छूट सके, उतना छोड़ो और जो न छूट सके उसे छोड़ने की भावना रक्खो ? आप निश्चित श्रद्धा रखिये की राग-द्वेष सर्वथा त्यागने को हैं और उनका मूल स्वार्थ मुझे अवश्य त्यागना है। ऐसी भावना होगी तो कभी न कभी स्वार्थ बिल्कुल छूट जायगा। अच्छा काम जितना बने उतना ही करो। उसे टालो मत। अच्छे काम में विलम्ब मत करो। दूसरे का अहित करने से ही स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है किन्तु परमार्थ करते हुए भी स्वार्थ साधा जा सकता है। भर्तृहरि ने कहा है—

> एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
> तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
> ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

इस संसार में चार तरह के मनुष्य हैं—सत्पुरुष, सामान्य पुरुष, राक्षस पुरुष और चौथे वे पुरुष जिनका नाम स्वयं भर्तृहरि भी नहीं जानते। सत्पुरुष वह है जो दूसरे के हित के लिए अपना स्वार्थ छोड़ देते हैं। जो सत्पुरुष [illegible] है वह पूर्ण-सत्पुरुष कहलाता है और जो [illegible] है वह आंशिक सत्पुरुष कहलाता है। [illegible] उस एक कबूतर के लिए अपना [illegible]

था। वह कबूतर राजा का क्या लगता था कि राजा उसकी रक्षा के निमित्त तन काट कर देने को भी तैयार हो गया। लेकिन सत्पुरुष यह नहीं सोचते कि यह मेरा कोई लगता है या नहीं लगता। उनकी प्रकृति ही दूसरों की भलाई करने की होती है। दूसरों के कल्याण के लिए वे धन ही नहीं, अपना तन भी देने को तैयार हो जाते हैं, और वह भी प्रसन्नता से। धर्मरुचि अनगार को स्मरण करो जो चीटियों की दया के लिए कडुवा तूंबा पी गये।

राज्य और धन देने वाले राजा तो अनेक हुए होंगे, पर तन देने का उदाहरण या तो यह है या महाभारत में राजा शिवि का। महाभारत का उदाहरण हो या जैन शास्त्र का हो। ऐसा उदाहरण मिलेगा आर्यावर्त्त में ही। मुहम्मद साहब के विषय में भी कहा जाता है कि वे एक फाख्ता के लिए अपने गाल का मांस काट कर देने को तैयार हो गये थे। मतलब यह है कि जो दूसरे के हित के लिए अपना स्वार्थ छोड़ देता है, वह सत्पुरुष कहलाता है।

दूसरा सामान्य पुरुष वह है जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित न करे। जो अपना स्वार्थ तो न छोड़ सके, पर दूसरों की हानि भी न करे वह सामान्य पुरुष कहलाता है। उदाहरण के लिए-अगर आप मील के बने वस्त्र छोड़ दें तो

क्या आपके स्वार्थ की कोई हानि होगी ? हानि कुछ भी न होगी, इज्जत भले ही बढ़ जाए, साथ ही दूसरों का भला होगा। अपना स्वार्थ न छोड़ते हुए भी ऐसा करने से परार्थ इस तरह होगा कि आपके जो पैसे मील के वस्त्र में खर्च होते हैं, वह गरीबों को मिलने लगेंगे। इस तरह आपका स्वार्थ भी नहीं छूटता और परार्थ भी होता है। आपको तो सिर्फ सादगी धारण करनी पड़ती है यानी कुछ नजाकत छोड़नी होती है। इस प्रकार जिन पुरुषों ने मिल के वस्त्र, रात्रि भोजन आदि का त्याग किया है, उन्होंने स्वार्थ के साथ परमार्थ का आराधन किया है।

भर्तृहरि कहते हैं—तीसरी श्रेणी के पुरुष वह हैं जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित कर डालते हैं। ऐसे लोग राक्षस हैं।

आजकल राक्षसी प्रजा बढ़ी हुई है। गोघातक, पशुघातक आदि लोग राक्षसी स्वभाव के ही हैं।

भर्तृहरि का कथन है कि इन तीन श्रेणियों के अतिरिक्त एक और श्रेणी है जो अपने स्वार्थ या मतलब के बिना ही दूसरे के स्वार्थ का नाश कर डालती है। इस श्रेणी के लोगों का क्या नाम होना चाहिए, यह मैं भी नहीं जानता। जो मनुष्य अनर्थदंड का पाप करता है, उसे क्या नाम दिया जाय, नहीं कह सकता। यह बड़ी ही अधम वृत्ति है कि अपना कुछ स्वार्थ न होते हुए

भी दूसरे का अहित कर डालते हैं। यह तो राक्षसपन से भी अधिक नीचता है।

यह सब कषाय का परिणाम है। क्रोध आदि कषाय आत्मा को लाघव, आदि पाँच सद्गुणों से दूर रखते हैं। इस प्रकार आत्मा के परमात्मा-स्वरूप होने में कषाय विघ्न डालता है। कषाय होने से ही आत्मा में उक्त पाँच बातें नहीं आतीं। इसीलिए गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है-प्रभो ! श्रमण निर्ग्रन्थ को लाघविकता आदि पाँच बातें प्रशस्त हैं तो क्या अक्रोध, अमान, अमाया और अलोभ भी श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए प्रशस्त है?

भगवान् ने उत्तर दिया-हाँ गौतम ! यह भी प्रशस्त हैं। इन चार कषायों को दूर करने से अलाघव, अति-इच्छा आदि दोष दूर हो जाते हैं। अतः इन्हें भी प्रशस्त ही समझना चाहिए।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न में गहरा रहस्य है। उस रहस्य का विचार करने में बड़े-बड़े पंडित भी चक्कर में पड़ जाते हैं। लेकिन भगवान ने सबका चक्कर मिटा कर ऐसा उत्तर दिया है कि बाल जीव भी समझ सकते हैं और पंडित भी समझ सकते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ का भगवान ने अलाघव आदि के साथ अविनाभाव संबंध बतलाया। लेकिन अब ऐसी ही दूसरी बात भी बताते हैं। क्रोध मान, आदि किससे उत्पन्न होते हैं? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कहा जायगा कि अलाघव

आदि से उत्पन्न होते हैं। मगर विशेष जिज्ञासु को इतने से संतोष नहीं होगा। वह यह भी जानना चाहेगा कि अलाघव आदि कैसे उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि ये सब एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। अलाघव आदि पाँच बातों से क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है और क्रोध आदि से इन पाँच की उत्पत्ति होती है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ नष्ट हो जाते हैं तब मोह नष्ट हो जाता है और मोह नष्ट हो जाने पर अलाघव आदि नष्ट हो जाते हैं। सारी गड़बड़ी मोह के कारण है। मोह का क्षय हो आत्मा की शांति के सब बाधक कारण दूर हो जाते हैं। मोह में भी कांक्षा-प्रदोष बड़ा है। इसलिए गौतम स्वामी उसी के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी ने पूछा—भंते! क्या कांक्षाप्रदोष मोह नष्ट होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ सब दुःखों का नाश करके मोक्ष जाने योग्य हो जाता है? अथवा जिनका शरीर अंतिम है। उसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं। वे चरम शरीरी कांक्षाप्रदोष मोह में फँस गये हों और इसी मोह में विहार कर रहे हों तथा इसमें लिप्त जाने से उन्होंने अनेक पाप किये हों तो भी क्या अंत में कांक्षाप्रदोष मोह नष्ट करके मोक्ष जा सकते हैं? कांक्षाप्रदोष मोह के कारण कैसे भी पाप किये हों, मगर अंत में इसे नष्ट

करके उसी भव में मोक्ष जाना संभव है ? चरमशरीरी न हो तो बात दूसरी है, किन्तु चरमशरीरी कांक्षाप्रदोष नष्ट करके क्या मोक्ष जा सकता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हां गौतम जा सकता है।

कांक्षाप्रदोष किसे कहते हैं, यह जान लेना चाहिए। दर्शनान्तर के आग्रह को कांक्षाप्रदोष कहते हैं। वस्तु अनेकांत-रूप है, फिर भी उसे एकान्तरूप बताकर हट करना दर्शनान्तर का आग्रह कहलाता है।

जैनधर्म नय और प्रमाण से वस्तु में विविध धर्मों (गुणों) का अस्तित्व स्वीकार करता है। एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टियों से अनेक स्वरूप वाली दिख पड़ती है। वे सभी स्वरूप उस में विद्यमान भी है। मगर लोग अपने दुराग्रह के कारण एक स्वरूप को-एक धर्म को-पकड़ बैठते हैं और दूसरे धर्मों का निषेध करने लगते हैं। इसी कारण अनेकान्त की जगह एकान्त आ जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सात अंधों का हाथी संबंधी मतभेद पहले बतलाया जा चुका है। उससे यह बात स्पष्ट है कि सभी एकान्तवादी किसी अपेक्षा से सच्चे हो कर के भी दूसरों को झूठ कहने के कारण आप झूठे बन जाते हैं। दुर्भाग्य से अनेकान्तवाद को मानने वाले जैनों में भी मतभेद उत्पन्न हो गया है। प्रमाण और नय से वस्तु को देखा जाय तो किसी प्रकार का

झगड़ा नहीं हो सकता। पूरे हाथी के स्वरूप को देखना प्रमाण है और उसके एक-एक अंग का विचार करना नय है। हाथी के एक-एक अंग को एकत्र करने से सम्पूर्ण हाथी हो जाता है। इसी प्रकार सब नयों का समूह प्रमाण कहलाता है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और लीजिए। किसी ने तालाब में से एक अंजलि जल लेकर कहा—यह चुल्लू का पानी तालाब है या अतालाब है? अगर चुल्लू के पानी को तालाब न कहा जायगा तो दूसरी, तीसरी चुल्लू का पानी भी तालाब नहीं कहलायगा। अन्ततः लाखों करोड़ों चुल्लू में भी तालाब नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार तालाब कहीं नहीं रह जाएगा! इसके विपरीत अगर एक चुल्लू को ही तालाब मान लिया जाय तो बाकी बचे जल को क्या कहा जायगा? इसलिए जैनसिद्धान्त की मान्यता यह है कि एकान्त दृष्टि से किसी वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती। आचार्य विद्यानन्दी कहते हैं:—

> नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
> नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥
> तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
> समुद्रबहुता वा स्यात्तच्चेत्क्वास्तु समुद्रवित् ॥

अर्थात्—नय के द्वारा वस्तु का जो एक अंश ग्रहण किया जाता है, वह अंश न तो पूर्ण वस्तु है, न एकदम अवस्तु है।